योगतन्त्रविमर्शिनी

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

योगतन्त्रविभागीय अनुसन्धान पत्रिका

सम्पादक

म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्

अध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग

वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रथम अंक

संवत् २०२६

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल प्रतिपद् २०२७

योगतन्त्रविमर्शिनी

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

योगतन्त्रविभागीय अनुसन्धान पत्रिका

सम्पादक

म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्

अध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग

वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रथम अंक

संवत् २०२६

प्रकाशक
संचालक, अनुसन्धान संस्थान
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२

मूल्य ५ रुपया

मुद्रक—
अनिल कुमार गुप्त
संसार प्रेस, संसार लिमिटेड
काशीपुरा, वाराणसी।

विषय-सूची

योग-तन्त्र-विमर्शिनी

अङ्क १, वाराणसी, श्रावण, सं० २०२६

जीव का आविर्भाव और क्रमिक विकास

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

अन्यान्य धर्मों की तरह शाक्त धर्म का भी अन्तरंग एवं बहिरंग स्वरूप है और दोनों के अन्तराल में एक मध्य विभाग भी है। केवल इतना ही नहीं, जिसे जगत् में साधना कहा जाता है, वह प्रत्येक धर्म में है। अन्तरंग साधना में जिस प्रकार साध्यसाधक भाव है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है। स्वभाव मूलक अधिकार के अनुसार साधना का मार्ग निश्चित किया जाता है। अतः साधक मात्र ही पथिक है। परन्तु सब साधकों का पथ एक ही प्रकार का नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रत्येक विभाग में प्राकृतिक नियम के अनुसार दृष्टिवैचित्र्य देखने में आता है अर्थात् जिस प्रकार अन्तरंग साधना में प्रकारगत भेद है, उसी प्रकार बहिरंग साधना में भी है, क्योंकि मनुष्य की रुचि विभिन्न प्रकार की है। स्वभाव के अनुसार जिस प्रकार लक्ष्य में अन्तर पड़ जाता है, उसी प्रकार स्वभाव के अनुसार मार्ग में भी फरक पड़ जाता है। किन्तु रुचि-निरपेक्ष अखण्ड दृष्टि में वास्तव लक्ष्य एक छोड़कर दो नहीं होता। सामर्थ्य के भेद से रुचि तथा अधिकार का भेद होने के कारण मार्ग विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। प्रस्तुत लेख में अन्तरंग शक्ति का एक प्रकार का विवरण देना चाहता हूँ।

लक्ष्य का स्वरूप-निर्णय करना चाहिए। परमाद्वैत शाक्तयोगी का कथन है कि पूर्ण सत्ता ही लक्ष्य है, जो वस्तुतः पराशक्ति अथवा प्रकाशस्वरूप आत्मा से अभिन्न है। इस प्रकाश में किसी प्रकार का अवच्छेद नहीं है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार अवच्छेद है यह भी सत्य है। अनवच्छिन्न प्रकाश ही महा-

प्रकाश नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें शिव और शक्ति परस्पर अभिन्नतया स्फुरित होते हैं। एक ही सत्ता शिवरूपेण द्रष्टा है, एवं शक्तिरूपेण दृश्य है। इसको स्मरण में रखना चाहिए कि वह चिदात्मक भी है। द्रष्टारूप लेकर शिव है, दृश्यरूप लेकर शक्ति है। जो शरीर है वही शरीरी है। यह निरन्तर अपने आपको अविच्छिन्न रूप से देख रहे हैं। इस स्थिति में देश, काल तथा निमित्त की संभावना ही नहीं है। यह नित्य वर्तमान तथा नित्य संनिधान रूप में स्थित है। आत्मा की यह स्वातन्त्र्य रूप अवस्था है। यह जो शक्त्यात्मक शरीर है, लौकिक दृष्टि से यही समग्र विश्व है। विश्व की यह कारण अवस्था है। परन्तु इस बात को स्मरण में रखना चाहिए कि विश्व का यह शक्त्यात्मक रूप सामान्य रूप है। इस अवस्था में शिव को अस्पन्द एवं शक्ति को स्पन्द रूपा कहा जाता है। किन्तु दोनों अभिन्न होने के कारण इसमें स्पन्द एवं अस्पन्द इस प्रकार का विभाग नहीं है। प्रकाश का एक अनवच्छिन्न रूप एवं दूसरा अवच्छिन्न रूप भी है। इस दृष्टि से देखने पर समग्र विश्व इसी के अन्तर्गत है, यह मालूम पड़ेगा। जिस प्रकार अनवच्छिन्न आत्मा अथवा शिव की दृष्टि से उनकी शक्तिरूप शरीर सामान्य भावापन्न सत्ता है, उसी प्रकार अवच्छिन्न आत्मा अथवा जीव की दृष्टि से प्रतिनियत विशेष रूप को लेकर विश्व का भान होता है। अनवच्छिन्न आत्मा की दृष्टि से प्रतिनियत विशेष सम्पन्न कोई भी दृश्य स्फुरित नहीं होता। इसी कारण से उनकी दृष्टि अवच्छिन्न नहीं होती। परन्तु जिस दृष्टि से प्रतिनियत विशेषरूप का भान होता है, उसके लिए पूर्वोक्त प्रतिनियत रूप ही अवच्छेदक होता है। इस प्रकार से वह दृष्टि परिच्छिन्न होती है। यही जीवभाव का रहस्य है। अवच्छिन्न प्रकाश में ग्राहक, ग्रहण और ग्राह्य यह त्रिपुटी रहती है। ग्राहक जीवात्मा है। ग्राह्य विषय अथवा जगत् और ग्रहण करण सामग्री है। आत्मा चित् प्रधान अवस्था में द्रष्टा मात्र था। परन्तु माया के स्पर्श से त्रिपुटी भूमि में द्रष्टा ने इस समय भोक्ता का रूप धारण कर लिया। अत एव वस्तुतः जो ग्राह्य है, वह संसारावस्था में भोग्य से अभिन्न है। ग्रहण या करण भोग का साधन मात्र है। शिव शरीरी है और उनसे उनकी अभिन्न शक्ति ही उनका शरीर है। दोनों शुद्ध चिदात्मक है। जीव भी शरीरी है। परन्तु उसका शरीर उनके स्वरूप से भिन्न है। एक का शरीर चित् स्वरूप है, दूसरे का अचित् स्वरूप है। किन्तु इस अचित् रूपी शरीर में ही चित् स्वरूप जीवात्मा का अहँ अभिनिवेश लगा हुआ है। यदि इस प्रकार नहीं रहता तो जीव को भोग संभव नहीं रहता।

इसी विषय को और स्पष्ट करने के लिए विशेष विश्लेषण किया जा रहा है। महाशक्ति के स्वरूप को विचार की दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि यह परम प्रकाशमय निरपेक्ष आत्मस्वरूप मात्र है। अर्थात् अपरिच्छिन्न सत्तास्वरूप एवं अखण्ड अनन्त भाव मात्र है। परन्तु उनमें कुछ भी प्रतिभासमान नहीं हो रहा है। मानों चिदात्मा के अनन्त दर्पण पड़े हुये हैं, जिसमें किसी चित्र का भान नहीं हो रहा

है, मानो अपने में आप—यही दर्पण है अर्थात् यही निराभास चैतन्य अथवा विश्वातीत चित्सत्ता है। कोई-कोई आचार्य इसको अखण्ड अनन्त सत्ता-समुद्र में केवल चित्कला का प्रकाश कह कर वर्णन करते हैं। मानो यह कला कलातीत के साथ एकात्मक होकर विद्यमान है। यह परम साक्षी स्वरूप है, यह स्वप्रकाश द्रष्टा है। द्रष्टा बनकर यह अपने आपको ही देख रहा है। क्योंकि भिन्न दृश्य तो कुछ नहीं है। यह कला होने पर भी अस्पन्द है। शक्ति होने पर भी शिवस्वरूप है। कलातीत सत्ता चित्कला को कभी परिहार नहीं करती। यदि मान लिया जाय कि परिहार करती है, तब कहना पड़ेगा कि यह कलातीत भी अचित् होने के कारण असत् अथवा असत्कल्प है। यह चित्कला स्पन्दहीन होने पर भी अचिन्त्य रूप से स्पन्दनशील है। चित्कला की यह स्पन्दनशीलता ही महाशक्ति का दूसरा विभाग है। इस स्पन्द के प्रभाव से इसमें निरन्तर संकोच तथा विकास का व्यापार चल रहा है। जैसे कलातीत सत्य एवं चित्कला जो कि उसका नित्य साथी है; उसी प्रकार चित्कला भी सत्य है और संकोच-प्रसार उसके नित्य साथी हैं। पक्षान्तर में यह भी सत्य है कि संकोच-प्रसार सत्य है और चित्कला उसका नित्य साथी है। दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। एक को छोड़कर दूसरा नहीं रह सकता है। चित्कला अमृत कला है और संकोच-प्रसार रूप व्यापार उसका आश्रय करते हुए कलनात्मक काल के खेल रूप में प्रकाशित हो रहा है। परन्तु कलनात्मक काल को छोड़कर कलनहीन महाकाल भी एक परम रूप है, जो काल होकर भी काल नहीं है और काल न होकर भी कालरूप में गण्य है।

संकोच एवं प्रसार के मूल में चित्कला की स्वातंत्र्यमयी लीला है। यह उसका स्वभाव है। चित्कला का प्रसरण जब होता है, तब उसमें आभास का उदय होता है।

प्रसार की पूर्णता के अनुरूप समग्र विश्व का भान उसमें होता है। यह प्रसार क्रम से होता है और बिना क्रम से एक क्षण में भी होता है। जब बिना क्रम से यह प्रसार होता है, तब चिद्दर्पण में पूर्ण आभास विद्यमान रहता है। शक्ति की दृष्टि से यही महासृष्टि है। यह खण्डसृष्टि नहीं है। क्रमशक्ति सम्पन्न काल की क्रमिक सृष्टि भी नहीं है। यह महाकाल की महासृष्टि है। वस्तुतः यह सृष्टि होने पर भी सृष्टि नहीं है, क्योंकि यह वर्तमान स्थिति है। यह चित् से अलग कुछ नहीं है। चित् का जो आभास रूप भाग है, वह विश्वात्मक है और जो निराभास भाग है वह विश्वातीत है। वस्तुतः निराभास चित् में निराभास स्थिति में भी नित्य साभास दशा विद्यमान है। इसीलिए ब्रह्म उभयलिंग है, अर्थात् नित्य निर्गुण होते हुए भी नित्य सगुण है। नित्य निराकार होते हुए भी नित्य साकार है। चिद्रूप महाशक्ति में विश्व भास रहा है, यह भी सत्य है। नहीं भास रहा है, यह भी सत्य है। यह एक विचित्र प्रहेलिका है।

जिसे हम सृष्टि एवं संहार कहते हैं, उसमें क्रम है, परन्तु यह क्रमदर्शन परिच्छिन्न प्रमाता के लिए है। अपरिच्छिन्न प्रमाता की दृष्टि से क्रम नहीं है। चित् कलायुक्त शिव परप्रमाता है। उसे परिच्छिन्न अथवा खण्ड प्रमाता नहीं कहा जा सकता। परप्रमाता प्रकाश तथा विमर्श का विचित्र रूप होने के कारण पूर्णाहं है, अर्थात् परमेश्वर एवं परमेश्वरी पदवाच्य है। कलातीत और चित्कला एक ही साथ अभिन्न स्वरूप में अवस्थित हैं, उसमें चित्कला अस्पन्द होने पर भी निरन्तर स्पन्दन लीलाशील है। उसके अहं में अनन्त शक्तियों का समाहार है।

जब परप्रमाता अपरिच्छिन्न रहते हुए स्वेच्छा से अपने को परिच्छिन्नवत् दिखलाते हैं, उस समय परिच्छिन्न अहं के सम्मुख उसके प्रतियोगी के रूप में इदं का प्रतिभास होता है। इस प्रतिभास में क्रम रहता है, क्योंकि यह काल के अधीन है। उस समय आत्मा स्वयं ही अपने से स्वयं अलग हो जाता है। यही परप्रमाता का स्वरूप में पहले संकोचग्रहण है, जिसके प्रभाव से आत्मा विभु होते हुए भी अणुभाव प्राप्त होता है। इस चिदणु को परिच्छिन्न प्रमाता, मायाप्रमाता, खण्ड जीव, जीव इत्यादि नामों से वर्णित किया जाता है। इसके सामने इदंरूपेण जिसका प्रथमतः प्रकाश होता है, वही शून्य अथवा आकाश है। कोई कोई इसको चिदाकाश कहते हैं। यह ध्यान में रखना कि यह वस्तुतः चिदाकाश नहीं है। पहले जिस महासृष्टि के बारे में कहा गया, चित् सत्ता में दर्पण स्थित प्रतिबिम्बवत् प्रतिभासमान होती है। उसका नाश नहीं होता। निराभास चैतन्य की स्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होती। इस आभासरूपी विश्व का दर्शन जब अभेद में संघटित होता है, तब किसी किसी की दृष्टि में वही भगवद्‌दर्शन रूप में प्रतीत होता है।

यह अभेद-सर्वज्ञत्व की अवस्था है। परन्तु यह दर्शन अभेद में न होकर भेद में भी हो सकता है। अर्जुन का विश्वरूप दर्शन, योगवासिष्ठ में वर्णित लीला का दर्शन, डान्टे का Divine Comedy में वर्णित Sempiternal Rose का दर्शन; यह सब भेदसृष्टि का दर्शन मात्र है। यह महासृष्टि का दर्शन नहीं है।

आत्मा से भिन्नरूपेण जगत् का दर्शन परिमित प्रमाता का दर्शन है, यह पर-प्रमाता का दर्शन नहीं है। क्योंकि परप्रमाता समग्र विश्व का अपने स्वरूप से अभिन्नरूपेण आत्मस्थित प्रतिबिम्बवत् दर्शन करते हैं। अणुभाव प्राप्ति के साथ चित् महामाया से आच्छन्न हो जाते हैं। मानों उसमें निद्रित हो जाते हैं। इसी का नामान्तर काल-राज्य में प्रवेश है। काल की दृष्टि से यही अनादि सुषुप्ति है। यह अनादि होने पर भी वस्तुतः इसके मूल में है आत्मा का स्वातन्त्र्य मूलक संकोच-ग्रहण। इस सुषुप्ति के अनन्तर अवरोह क्रम से माया भेद के बाद जागरण होता है। उस समय चिदणु खेचर चक्र से नियन्त्रित होकर मितप्रमाता बन जाते हैं, अर्थात् अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, देशावच्छिन्न, कालावच्छिन्न और सर्वदा अभाव बोध

द्वारा क्लिष्ट प्रतीत होते हैं। आत्मस्वरूप की यह अख्याति या अज्ञान ही तन्त्रशास्त्र में महामाया रूप में वर्णित है।

पशुभाव अथवा जीवभाव का उदय उसके बाद होता है। परा वाक् इस आदि जीव को महासृष्टिमूलक खण्ड खण्ड अर्थ प्रदर्शन करती है। यह सब विकल्प रूप हैं और क्षणस्थायी हैं। निरन्तर चित्क्षेत्र में इनका आगमन तथा निर्गमन होता है। वेदान्तशास्त्र में यह सब अविद्या की विक्षेप वृत्ति है। इसके बाद कर्म का आविर्भाव होता है। उस समय देह भी दृष्टिगोचर होता है। चिदणु उसमें प्रवेश करते हैं। देह कर्मसृष्ट है। श्रुति में लिखा है—"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"। पहले था आत्मा में अनात्मभाव या इदंभाव, उसके बाद था देह में अर्थात् इदं में अहंभाव, उसके बाद देह में अर्थात् इदं में अहंभाव अर्थात् अनात्मा में आत्मभाव रहा। इसके मूल में शब्द, वर्ग-शक्ति और वर्णमाला का खेल है। पश्यन्ती भूमि में अवरोह के समय में आत्मा में अनात्मभाव की सूचना होती है। मध्यमा में सूक्ष्म में प्रवेश होता है और वैखरी में स्थूलभाव का उदय होता है। उस समय भौतिक देह में अहंभाव का उदय होता है। इस अवसर में सबसे पहले बाह्य जगत् का दर्शन होता है। यह बाह्य जगत् पूर्वोक्त महासृष्टि का एक देशमात्र है। यह देहावच्छिन्न अहं की वहिर्मुख दृष्टि के सम्मुख भासमान होता है। इसी का नाम है पतन। यह आत्मा की पंचकृत्य-कारिणी पंचशक्तियों के अन्तर्गत तिरोधान शक्ति का अन्तिम फल है।

विषय अत्यन्त जटिल है, फिर भी इसे संक्षेप में परिस्फुटित किया जाता है। मूल में है परम शिव। उस समय विश्व उससे अभिन्न है। इसके बाद स्वातन्त्र्य के बल से आणवभाव की प्राप्ति होती है, परन्तु यह अणु की सुप्त अवस्था है। यही महामाया अथवा स्वरूपाख्याति नाम से प्रसिद्ध है। प्रचलित परिभाषा में इसी का नाम है कुण्डलिनी की निद्रा अथवा सुप्ति। इसके बाद माया के स्पर्श से सुप्ति का भेद होकर जाग्रत् भाव का उदय होता है। इस समय चित् का आविर्भाव होता है और स्वरूप से भिन्नरूपेण विश्व का बोध होने लगता है। मायिक कंचुकों का सम्बन्ध भी इसी समय होता है। महान् समग्र विश्व को देख पाता है। परन्तु अणु विश्व के किंचित् अंश को देख पाता है। वह भी भिन्नरूपेण है। इस समय विकल्पों का उदय होता है। प्रति क्षण में नवनवोन्मेष हो जाता है। इस नाटक के सूत्रधार रूप में परा वाक् सब कुछ प्रदर्शन करती हैं। मित प्रमाता अथवा जीव उसको देखकर मुग्ध हो जाता है। इसके बाद वही शब्द नादरूप में प्रकाशित होता है। उस समय सर्वत्र एकमात्र आकाश ही आकाश भासता है। उसके बाद वह नाद खण्डित होकर वर्णमाला के रूप में प्रतिभात होता है। यही देहरचना का समय है। माया के अनन्तर कर्म सूचना इसी स्थान से शुरू होती है। इसमें समस्त वर्ण रहते हैं। परन्तु अहं रूपेण नीचे यह सब वर्ग व्याप्ति रूपेण अर्थात् अलग होकर प्रतिचक्र में रहते हैं। इन चक्रों में अहं नहीं है, किन्तु अहंकार

है। सहस्रार अर्थात् सहस्र दल अनन्त दल हैं। उसमें अनन्त वर्ण हैं। केन्द्र में शिव शक्ति है। प्रत्येक वर्ण का अपना-अपना दल है। उसमें अपने विस्तार की सुविधा होती है। मध्यमा से वर्ण शुरू होते हैं, किन्तु अस्पष्ट रूपेण। मनुष्य देह वर्ण से भरा हुआ है। सभी रचना के मूल में वर्ण हैं। कलना, संकल्पवृत्ति, भावसंस्कार, वासना, स्वभाव—यह सब कुछ वर्णमूलक है। सर्वत्र वक्र वायु का खेल है। यह सब शुद्ध वर्ण नहीं हैं। सहस्रार का वर्ण शुद्ध है, क्योंकि वहां वायु की वक्रता नहीं है। जहाँ वर्ण है, वहीं राज्य है। उसमें प्रवेश करने पर अन्तर्नाद मिलता है। केन्द्र में है बिन्दु। बिन्दु-भेद होते ही महाप्रकाश मिलता है।

सहस्रार के चारों तरफ वर्ण ही वर्ण हैं। केन्द्र के मार्ग में महानाद या परनाद है और केन्द्र में बिन्दु है। इस बिन्दु का नाम ही महा बिन्दु है, जो भगवद्धाम का केन्द्र है। भगवद्धाम ही केन्द्र से अभिन्न रूपेण भासमान विश्व है। मातृ-गर्भ में वर्णों से देह की रचना होती है, अर्थात् प्रणव की रश्मियों से यह रचना कार्य होता है। जीव वास्तव में अपने देह की स्वयं ही रचना करता है। बाद में स्वयं उसमें अहं अभिमान से बद्ध हो जाता है। स्थूल दृष्टि से इस अहं अभिमान की सूचना प्रसव के बाद मायिक जगत् में प्रथम श्वास ग्रहण करने के समय होती है। यही देहात्मबोध का रहस्य है।

शाक्त दृष्टि से प्रतीत होगा कि अनात्मा में आत्मबोध के मूल में वर्ण अथवा अशुद्ध मातृकाओं की क्रिया है। दूसरी तरफ से यह पता चलता है कि आत्मा में आत्मबोध अथवा अहंबोध के मूल में है शुद्ध मातृका की क्रिया। शुद्ध मातृका के प्रभाव से ही आत्मा में आत्मबोध का उदय होता है। भगवान् की स्वातंत्र्य शक्ति का जो खेल कहा जाता है, यही उस लीला का स्वरूप है।

आत्मा के अवतरण में क्रम है, परन्तु यह भूलना नहीं चाहिए कि बिना क्रम से भी अवतरण होता है। यहाँ उसका विचार नहीं किया जा रहा है। अवतरण का जो क्रम है, यह बुद्धिगत क्रम है। कालगत अथवा देशगत क्रम नहीं है। अवतरण के अवसर में प्रायः इस क्रम का पता नहीं चलता। परन्तु आरोह के समय इस क्रम का स्पष्टतया पता चलता है।

पहले ज्ञातृभाव अथवा प्रमातृभाव का स्फुरण होता है। तदनन्तर ज्ञान अथवा प्रमाण का स्फुरण होता है। अन्त में ज्ञेय अथवा प्रमेय का स्फुरण होता है। इस प्रसंग में यह बात स्मरण रखना चाहिए कि परमेश्वर ही परम प्रमाता है, अर्थात् सर्व ज्ञाता है। उनका ज्ञान जिस प्रकार नित्यसिद्ध है, उसी प्रकार उस ज्ञान में भासमान ज्ञेय भी नित्यसिद्ध है। सच कहा जाय तो वहाँ पर तीनों अभिन्न अथवा एक ही हैं, यह परशिवावस्था है भगवान् की विश्वातीत

स्थिति निर्गुण ब्रह्म नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध है। निर्गुण विश्वातीत स्थिति से समग्र सृष्टिप्रपंच अनिर्वचनीय माया के खेल के रूप में प्रतीत होता है। इसीलिए इसको मिथ्या अथवा विवर्तमात्र कहा जाता है। ब्रह्म कर्ता नहीं है, परन्तु मायिक प्रपंच का अधिष्ठान मात्र है। इस सृष्टि में ईश्वर है, जीव है, जगत् है, और काल, कर्म, अविद्यादि भी प्रवाह रूप में है। ब्रह्म में कुछ भी नहीं है। प्रकाशमात्र है। माया के प्रभाव से उसमें सभी का भान होता है। विश्वात्मक परम शिव में विश्व भी अभिन्न-रूपेण सर्वदा रहता है। उनके स्वातन्त्र्य से पृथक् रूपेण विश्व का भान हो सकता है। जो कि भासित हो रहा है, वह सब अभिन्नरूपेण सर्वदा विद्यमान है। यदि उसकी इच्छा हो तो विश्व पृथक् रूपेण भी भासित हो सकता है। यही सृष्टि का रहस्य है। यह मिथ्या नहीं है। क्योंकि परमशिव स्वरूप में विश्व से अभिन्नतया नित्य विद्यमान है। अत एव यह कहा जाता है कि समग्र विश्व शक्तिरूपेण उनसे अभिन्न है और उनकी इच्छा से सृष्ट अथवा विसृष्ट मात्र है। जो उनमें भासित नहीं होता है, उसका स्फुरण पृथक् रूपेण भी नहीं हो सकता।

इसको अवतरण का क्रम कहा गया है। इससे यह पता चलता है कि स्वतन्त्र चिति ही विश्व सिद्धि का हेतु है। शक्ति सूत्र का भी यही कथन है। इससे प्रतीत होगा कि सबके आदि में अर्थात् त्रिपुटीरूप विश्व रचना के प्राक्-काल में जो रहता है, वही प्रमिति या संवित् है। पहले इस पूर्ण संवित् या चित् शक्ति से खण्ड प्रमाता अथवा चिदणु का आविर्भाव होता है। यह ज्ञानहीन एवं ज्ञेयहीन ज्ञाता का मूल स्वरूप है। उसके बाद उस ज्ञाता से ज्ञान का उदय होता है। उस समय स्थिति में ज्ञाता और उसका ज्ञान यह दोनों है। यह ज्ञान अभेदात्मक है (वर्ण), उससे वह भेदाभेदात्मक (मन्त्र) होता है। अन्त में भेदात्मक (पद) है। यह तीन प्रकार का ज्ञान है। वर्ण रूप अभेद ज्ञान एवं पूर्व वर्णित संवित् स्वरूप सर्वथा एक नहीं है। मन्त्र रूप ज्ञान में ज्ञेय का भान रहता है। यह अभेद में भेद का उन्मेष मात्र है, यह समझना चाहिए। पदरूप ज्ञान में भेद का प्राधान्य रहता है, परन्तु स्मरण में रखना चाहिए कि यह भी ज्ञान ही है, यद्यपि इसका प्रतिभास ज्ञेयरूपेण होता है। इसके अनन्तर ज्ञान के बाद अज्ञान के बीच में क्रिया-शक्ति का खेल शुरू होता है। उस समय केवल ज्ञेय मात्र रहता है, ज्ञान नहीं रहता है। तन्त्र में इसी का नाम है वाचक अध्वा से वाच्य अध्वा में प्रवेश। क्रिया-शक्ति कलन रूप से ज्ञेय रूपी ज्ञान को निकाल देती है। इसी को अर्थसृष्टि अथवा Matter का आविर्भाव कहा जाता है। इसमें भी विकास का क्रम है। पहले कलन के प्रभाव से कला का आविर्भाव होता है। उसके बाद कला से तत्त्व का आविर्भाव होता है और अन्त में तत्त्व से भुवन का आविर्भाव होता है। इसी स्थान में अर्थ का अवसान होता है। भुवन से जो कार्यसृष्टि होती है, वह सृष्टि भुवन के अन्तर्गत ही समझनी चाहिए। संक्षेप में यही जगत्स्वरूप की आलोचना है।

आरोह-क्रम ठीक इससे विपरीत है। अवतरण के क्रम को जीव जान नहीं सकता, किन्तु उद्धार के क्रम को जान सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् की तिरोधान शक्ति उनका आत्मसंकोच संपादन करती है। प्रचलित भाषा में इसी को कुण्डलिनी की सुप्ति कहा जाता है। यह बात पहले भी कह चुके हैं। इसके दो प्रान्त हैं—ऊर्ध्व प्रान्त है अनुभव का उदय और आत्मा में अनात्मभाव का स्फुरण, इसके बाद अनात्मभाव में आत्मभाव का उन्मेष अधः प्रान्त है। मनुष्य मातृगर्भ से भूमिष्ठ होने के साथ ही साथ अस्फुट रूप होने पर भी अहंबोध का अनुभव करने लगता है। इसी का नाम अहंकार है। उस समय देह ही अहं है। दृष्टि है बहिर्मुखी और इन्द्रियों से अहंरूपी आत्मा बाह्य रूपी जगत् का अनुभव करता है। देहाभिमानी होने के कारण जगत् को अपने से भिन्न करके अनुभव करता है। यह अनुभवयोग्य रूप है। इसी का नाम है बाह्य जगत् की सृष्टि। एक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह बाह्य जगत् जीव की निजी सृष्टि है। जीव इस जगत् को अपने अन्तर्गत रूप में दर्पण में दृश्यमान नगरी जैसे दर्पण से पृथक् प्रतीत होने पर भी दर्पण के अन्तर्गत ही समझता है, ठीक उसी प्रकार बाह्य जगत् जब तक अपने आत्मा के अन्तर्गत रूप में देखा नहीं जायेगा तब तक जीव पतित ही है और पतित ही रहेगा। जितने ही दीर्घ काल की आवश्यकता हो और जितने ही लोक-लोकान्तर में जीव का संचार क्यों न हो, इस प्रकार का जीव वस्तुतः पतित ही है, इसमें सन्देह नहीं है। शुभकर्म के प्रभाव से लोक-लोकान्तर में जाकर भोगैश्वर्य प्राप्त होने पर भी वह पतित ही कहलायेगा। सद्गुरु के अनुग्रह के विना इसका उद्धार नहीं हो सकता।

आत्मा जब जीव बन कर पतित हो जाता है, तब प्रत्येक स्तर में भगवत् शक्ति उसकी अपनी पतित अवस्था के अनुरूप सहायता देती है। वस्तुतः अपनी शक्ति ही आत्मा को मोहित करती है। यह सब शक्तिचक्र का रूप लेकर नियन्त्रित हैं। इनमें कुछ शक्तियाँ जो कि खेचरी शक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं, खेचरी चक्र के रूप में आवर्तित होकर जीव को मित प्रमाता के रूप में परिणत करती है। दिक्चरी शक्तियाँ दिक्चरी चक्र के रूप में आवर्तित होकर जीव के अन्तःकरण के रूप में प्रस्फुरित होती है। इसी प्रकार गोचरी शक्तियाँ गोचरी नाम लेकर जीव को इन्द्रिय रूप में परिणत होती है। भूचरी शक्तियाँ भूचरी चक्र के नाम से जीव को देह में अहंभाव से बद्ध करती है। विशाल एवं अनन्त मुक्त सत्ता में अहंप्रतीति का उदय भूचरी चक्र द्वारा प्रतिरुद्ध होता है। इस प्रकार जीव जिस समय पाश-बद्ध रहता है, तब dumb driven cattle के सदृश रहता है, इसी लिए पशु शब्द से अभिहित होता है।

यह पशु रूपी जीव की उस समय की अनुभूति कैसी है? पूर्वोक्त प्रकार से बद्ध पशु जगत् को अपनी सत्ता से भिन्न समझता है और भिन्नतया देखता भी है। केवल इतना ही नहीं, सर्वत्र एक नियतभाव अर्थात् नियन्त्रण का भाव उसमें काम

करता है। शाक्त आचार्यगण इसी को विकल्प नाम से निर्देश करते हैं। जैसे एक पुष्प को देखकर जब उसको पुष्परूपेण ग्रहण किया जाता है, अर्थात् वह पुष्प है और कुछ नहीं है इस प्रकार जब उसको ग्रहण किया जाता है, उस समय समझना चाहिए कि यह जो देखना है यह विकल्प मात्र है। यह नियत रूप में अवधारण करना, अर्थात् यह पत्र नहीं, फल भी नहीं और दूसरा कुछ नहीं है, यही विकल्प है। सभी स्थलों में नाम, जाति प्रभृति की योजना होती है। वस्तुतः यह पुष्प मात्र नहीं है, परन्तु इसमें सब कुछ है, अर्थात् सब सर्वात्मक है, इस प्रकार ग्रहण करना ही निर्विकल्पक दर्शन है। बद्ध जीव नाम, जाति, आकार प्रभृति की योजना किए विना कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकते। यदि कर सकते तो इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता और किसी भी स्थान में किसी भी क्षण में किसी भी सत्ता का ग्रहण उनके लिए संभव होता है।

अवतरण के मार्ग में जीवरूपी आत्मा अनेक अधिकारियों का अधिकार मुक्त हो जाते हैं। पहले बिन्दु में स्थित शिव के अधिकार के भोक्ता हो जाते हैं। यह शिव अनाश्रित शिव है। इस अधिकार में आने के कारण क्रमशः आत्मा में अणुभाव का उदय, महामाया का आश्रय ग्रहण और आत्मस्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इसके बाद वह संकुचित आत्मा या अणु मायाधिष्ठाता ईश्वर के अधिकार में आ जाते हैं। उस समय ईश्वर उस अणु को माया से युक्त करते हैं। अर्थात् षट्कंचुकों के आवरण से आच्छन्न करते है। यह कंचुकित आत्मा उसके बाद ब्रह्मा के अधिकार के भोक्ता होते हैं और वे ईश्वर द्वारा ब्रह्मा के देह से युक्त हो जाते हैं। उसके बाद कंचुकावरण से आवृत होकर आत्मा अनादि, अनन्त कर्म-संस्कार के भीतर से गुण-राज्य में प्रवेश करते है। गुण-राज्य में रजोगुण के अधिष्ठाता उसको संस्कारानुरूप प्राकृत देह दान करते हैं। इस स्थान का व्यापार अत्यन्त रहस्यमय है। कालातीत सत्ता से काल-राज्य में प्रविष्ट होकर साथ ही साथ स्वरूपतः साक्षी मात्र होते हुए भी कर्तृत्व अभिमान से युक्त होते हैं। कर्म प्रवाह अनादि है।

आत्मा माया सम्बन्ध के अनन्तर काल और कर्म से युक्त होकर अनादि कर्मसंस्कार युक्त होकर अवस्थित है। वस्तुतः प्रकृति के गुणों से कर्म सम्पादन होता है। तथापि अविवेक से अहंकार-मोह से मूढ़ होकर आत्मा अपने को कर्ता समझता है। यह कहना अनावश्यक है कि यह कर्तृत्व परिच्छिन्न है, जिसके मूल में कला एवं अशुद्ध विद्या का प्रभाव है। देह की प्राप्ति के बाद जब तक देह का अवसान नहीं होता, अर्थात् जब तक देह की स्थिति रहती है, वह आत्मा विष्णु के अधिकार में रहता है। विष्णु ही प्राकृत सत्त्वगुण का अधिष्ठाता है। इसके अनन्तर देह संहार-काल में अर्थात् मृत्यु के समय रुद्र के अधिकार में आ जाता है। इसी प्रकार से जब तक मल का परिपाक न हो, तब तक अणु रूपी जीवात्मा

या पशु मृत्यु से जन्म, एवं जन्म से मृत्यु इस क्रम के अनुसार ब्रह्मादि त्रिदेवता के अधीन होकर निरन्तर आवर्तन करता है। इस आवर्तन में आत्मा अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व, मध्य और अधोगति प्राप्त करता है। जब तक मल पूर्णरूप से पक्व नहीं होता, तब तक पशु का भव-चक्र में आवर्तन होता रहता है। मलपाक होते ही श्रीभगवान् की शक्ति का संचार होता है। तब वह आत्मा जगद्गुरु सदाशिव के अधिकार में आ जाता है। दीक्षा के साथ ही वह शुद्धविद्या की प्राप्ति कर शुद्ध मार्ग में आरूढ़ होकर अनाश्रित शिव तत्त्व का भेद कर पूर्ण परमेश्वर या परमशिव अवस्था को प्राप्त करता है।

आत्मा पूर्वोक्त प्रणाली से जीवभाव धारण करके आत्म-विस्मृति प्राप्त करके अनादि काल से बह रहा है, यही उसका पतन है। आत्मा वस्तुतः देश एवं काल से अतीत है। अतः वह किस समय इस स्रोत में गिर गया, इसको मानवीय भाषा में व्यक्त करना संभव नहीं है। परन्तु गिरने के बाद जब वह दृष्टि के उन्मीलन में समर्थ होता है, तब उसे यह स्पष्टरूप से देखने में आता है कि यह एक अनन्त अनादि प्रवाह चल रहा है। अन्वेषण करने पर भी इसके आदि का पता नहीं चल सकता। सच बात यह है कि जीव का पतन काल एवं अकाल के सन्धि का व्यापार है। वस्तुतः काल के क्षेत्र से मुक्त होना भी इसी प्रकार का है।

जीव अपने को भूल कर अपनी शक्ति के अधीन हो जाता है। देह एवं इन्द्रिय युक्त अवस्था में कर्म के अनुसार समग्र मायिक जगत् में संचरण करता है। मायिक जगत् में अर्थात् मायाण्ड में असंख्य प्रकृत्यण्ड विद्यमान हैं और प्रत्येक प्रकृत्यण्ड में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, यह जीव के भ्रमण का क्षेत्र है। उत्थान एवं पतन निरन्तर होता रहता है, परन्तु इसका कोई मूल नहीं है। क्योंकि जीव ऊर्ध्व लोकों में जाने पर भी पहले जिस प्रकार पतित रहा, उसी प्रकार ही रहता है। ऊर्ध्व गति कर्मानुसार ही है एवं कर्म के अधीन भी। अतः इस ऊर्ध्व एवं अधोगति के फलस्वरूप जीव की पतित अवस्था में परिवर्तन नहीं होता। उत्थान की यथार्थ सूचना ठीक उसी समय माननी चाहिए, जब जीव अपने जीवभाव से मुक्त होकर अपने नित्य-शिव-स्वरूप की साधना पा सकता है। यह भगवदनुग्रह अथवा शुद्धविद्या के बिना नहीं हो सकता। शुद्धविद्या के उदय के प्रभाव से इस विराट् विकल्प-जाल के बन्धन से सर्वदा के लिए मुक्त होकर निर्विकल्पक परम पद में प्रतिष्ठित हो सकता है। जीव की परम पद में स्थिति तभी कही जा सकती है, जब वह जीव-सृष्टि एवं ईश्वर-सृष्टि से मुक्त होकर विशुद्ध विकल्पशून्य आत्मस्थिति में अवस्थान करे। जीव-सृष्टि में प्रत्येक जीव का जगत् भिन्न-भिन्न वासना और कल्पना से रचित है। नाम, जाति प्रभृति योजना के प्रभाव से जीव का ज्ञान विकल्पमय है और इस विकल्प के ऊपर जागतिक व्यवहार प्रतिष्ठित है।

श्रीगुरु-कृपा से शुद्धविद्या का संचार होते ही जीव की दृष्टि क्रमशः बदलने लगती है। शुद्धविद्या का तात्पर्य यही है कि सद्‌गुरु के अनुग्रह से शिष्य की तिमिराच्छन्न दृष्टि खुल जाती है। इसी का नामान्तर है ज्ञानाञ्जन शलाका से दृष्टि का उन्मीलन, अर्थात् ज्ञान-चक्षु का उन्मीलन। कौल योगियों का कथन है कि समग्र सृष्टि के मूल में जो परम बोध स्वरूप समुद्र है, उसको अकुल कहते हैं। इस अकुल में तरंग अथवा ऊर्मि का उन्मेष ही अनुग्रह का स्वरूप है। इसी तरंग को स्पन्द कहा जाता है। अकुल समुद्र में जब प्रथम स्पन्द का उदय होता है, तब वह अनुग्रह के विषयभूत जीव को स्पर्श करता है। यह स्पन्द वस्तुतः चिच्छक्ति का ही विकास है। जीव की मूल विकल्प-दृष्टि के ऊपर जब इस चिदूर्मि का आघात लगता है, तब जीव की सत्ता में परिवर्तन होने लगता है। सबसे पहले यह उन्मेष प्राप्त चिच्छक्ति काल को ग्रास करने के लिए प्रवृत्त हो जाती है। काल-ग्रास के सम्पन्न हो जाने पर ही जीव की दृष्टि से विकल्पजाल क्रमशः हटने लगता है। इस प्रक्रिया के क्रमिक विवर्तन से प्रथमतः प्रमेय का शोधन होता है। प्रमेय की शुद्धि के प्रभाव से आत्मा के आध्यात्मिक जीवन में एक विराट् परिवर्तन लक्षित होता है। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि "विश्वं दर्पण-दृश्यमान-नगरी-तुल्यं निजान्तर्गतम्" जिस प्रकार नगर दर्पण में दिखायी देता है, उसी प्रकार विश्व भी आत्मा में नगर प्रतिबिम्ब के सदृश प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है। तथापि "मायया बहिरिव उद्‌भूतम्" अर्थात् माया के कारण बाह्यवत् प्रतीत होता है। यह प्रतीति सत्य नहीं है। क्योंकि माया कट जाने पर, अर्थात् माया का कटना शुरू होते ही आत्मा विश्व को अपने स्वरूप में अनुभव करने लगता है। यह बाह्यवत् आभास कहा जाता है। यह पूर्वोक्त प्रमेय-सिद्धि के प्रभाव से नहीं रहता । देहात्मबोध के रहने के कारण आत्मा भ्रम से समझने लगता है कि विश्व अपने बाहर है। परन्तु देहात्मबोध हट जाने पर वास्तव में बाह्य में कुछ नहीं रहता। विश्व तब भी रहता है, किन्तु अपने से बाहर नहीं, अपने में ही है। शुद्धविद्या अथवा जाग्रत् चिच्छक्ति बुभुक्षु है। यह पहले विश्वग्रास करने के लिए उन्मुख होती है। यह बहिर्मुख होकर विश्व को भीतर ले आती है। विसर्ग शक्ति से विश्व विसृष्ट है। अब अपनी बिन्दु शक्ति से अन्ततः खींच लेती है। संवित् विषय को ग्रहण करके जब तृप्त होती है, तब विषय-भोगक्रिया नहीं रहती। ज्ञान रागात्मक रूप धारण करता है और साक्षात्कार स्वात्मरूप से होने लगता है। इसकी स्थिति किस प्रकार की है, इसकी आलोचना हम संक्षेप में करेंगें। जब ग्राह्य-ग्राहक भाव है, तब पराशक्ति विषयभोग अथवा राग को निर्वि-कल्प रूप से अनुभव करती है। यही विकासमयी चिद्‌देवी का द्वितीय विकास है। परम योगी इस अवस्था में वीरेन्द्र अथवा वीरेश्वर नाम से अभिहित होता है। यही वास्तव में भोग की अवस्था है। परन्तु यह भोग पशु का नहीं, किन्तु

वीर का है, क्योंकि पशु जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति की तीनों अवस्था में पृथक् पृथक् भोक्ता रहता है। उसकी तुरीय अवस्था है नहीं, परन्तु यह जो भोग की बात कही गई यह तुरीय अवस्था की है। इस दशा में जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, तीनों अवस्था में तुर्यानन्द का उल्लास रहता है। अतः शिवसूत्र में "त्रितयभोक्ता वीरेशः" कह कर इसी अवस्था का वर्णन किया गया है। उत्पलाचार्य ने इस अवस्था के बारे में कहा है–"तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्। सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥" (१३।८) यह एक अत्यन्त अद्भुत अवस्था है। यह भोग ही श्रीभगवद् अर्चना है। प्रत्येक इन्द्रिय से ही श्रीभगवान् की पूजा का रसायनरूप आसव प्रत्येक भावरूप चपक या पात्र में सम्यक् रूप से भर देने पर एक नशे Intoxication के सदृश भाव का उदय होता है। यह वही भाव है। चक्षु से रूप को देखना यह क्या है? यह है चक्षु द्वारा रूपनामक भाव या भाव क्रम पूजा रस का पान करना एवं तन्मय हो जाना। कान से शब्द सुनना यह भी उसी प्रकार का है। यह इस भाव का ही नामान्तर है। उपासना जाग्रत् में होती है, स्वप्न एवं सुषुप्ति में होती है। आत्मा जब जिस भाव में रहती है, उसी भाव में उसी अवस्था में इस प्रकार की पूजा होती है। यह दुर्बल के लिए नहीं है, इसी का नाम है—वीरभाव। भगवान् शंकराचार्य ने कहा—"यद् यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम्" यह इसी अवस्था का निर्देश है।

इसके बाद अर्थात् विषय के समाप्त होने के बाद अनन्त तृप्ति होती है। तृप्ति के बाद अन्तर्मुख अवस्था का उदय होता है। उस समय कौन तृप्त होता है? इसका उत्तर है, करणेश्वरी देवीगण। उनकी तृप्ति कब होती है? इसका उत्तर है, जब करणेश्वरीवर्ग चिदाकाशरूपी भैरवनाथ के साथ आलिंगित होकर पूर्णतया अन्तर्मुख होता है, अर्थात् उस समय करणेश्वरी देवी श्री भैरवनाथ से अभिन्न हो जाती है। यही उनके आलिंगित होकर शयनभाव का तात्पर्य है। जब तक इन्द्रियां आकांक्षायुक्त रहती हैं, तब तक करणेश्वरीगण चिदाकाशनाथ का आलिंगन नहीं कर सकतीं।

जब तक इन्द्रियों का विषय योग रहता है, तब तक श्वास प्रश्वास-क्रिया बहत्तर हजार नाड़ियों में चलती रहती है, उस समय आन्तर द्वादशान्त एवं बाह्य द्वादशान्त के बीच में एक जाने आने की क्रिया अर्थात् आकर्षण-विकर्षण की क्रिया चलती रहती है। अन्तर्मुखी गति से आन्तर द्वादशान्त में प्रवेश होता है और बहिर्मुखी गति से बाह्य द्वादशान्त का स्पर्श होता है। यह दोनों के संघट्ट का स्थान है। जब इन दो संघट्ट स्थानों में संविद् होती है, तभी परप्रमातृपद का उन्मीलन होता है। ठीक इसी प्रकार की अवस्था प्रमाण एवं प्रमेय की संधि में भी होती है। यह परप्रमातृ देवी परा संवित् की क्रिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस समय परा संवित् अपने तेज एवं प्रमा से मित

प्रमाता को अर्थात् जीवभाव को अपने स्वरूप में डुबा देती है, इसके प्रभाव से एक तरफ प्राण और अपान का संघर्ष निवृत्त होता है और दूसरी तरफ प्रमाण एवं प्रमेय का संघर्ष भी निवृत्त होता है। यही ज्ञाता की निर्विकल्प अवस्था है। उत्पलाचार्य प्रभृति योगियों के मतानुसार यही आध्यात्मिक शिवरात्रि है। उस समय चन्द्रादि के साथ सूर्य भी अस्तमित हो जाता है।

इस अवस्था के अतिक्रम करने पर योगी की एक विशिष्ट स्थिति होती है। इसमें दो अंश हैं—(१) बाह्य तथा (२) आन्तर। बाह्य स्थिति में स्वरूपाच्छादन होता है और आन्तर स्थिति में स्वरूप का उन्मीलन होता है। इस स्थिति में ही योगियों की परीक्षा होती है। इस स्थिति में जिस प्रकार प्रमेय भाव नहीं रहता, उसी प्रकार प्राण तथा अपान की क्रिया भी नहीं रहती। पहली ज्ञान अथवा मन की दिशा है, दूसरी प्राण की दिशा। दोनों ही परा समरूप से ज्ञात हो जाती है। शाक्त की परिभाषा में एक दिशा से सूर्य को दूसरी दिशा से चन्द्र को समझाने का प्रयत्न किया जाता है। चन्द्र एवं सूर्य दोनों का समरूप से अस्तमित होने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में जिस प्रकार ज्ञातृज्ञेयभाव का तरंग नहीं रहता है, उसी प्रकार प्राण का चलाचल भी शान्त हो जाता है। इस स्थल को योगियों के लिए परीक्षा का स्थान कहने का तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में स्वरूपानुसंधान जाग्रत् न रखने से स्वरूप के ऊपर आवरण पड़ जाता है, क्योंकि इस समय महामाया में प्रवेश होने के कारण स्वरूप का आच्छादित हो जाना स्वाभाविक है। इसी कारण इस अवस्था में आने पर योगी का स्वरूपानुसंधान सर्वदा जाग्रत् रखना पड़ता है। शिवरात्रि में रात्रि जागरण का तात्पर्य यही है। शिवसूत्रकार की परिभाषा में इस जागरण को ही उद्यम कहते हैं। यह अनाख्या दशा नाम से शास्त्र में परिचित है। स्वरूपानुसंधान ठीक रखने पर इस अवस्था में पहुँचते ही स्वरूप का विकास हो जाता है। इस स्थिति का नाम महाव्योम है। इस व्योम में चन्द्र-सूर्य का संचार नहीं है, अर्थात् प्राणापान की क्रिया नहीं है और प्रमाण-प्रमेय की क्रिया भी नहीं। इसी का नामान्तर चिदाकाश है। क्योंकि इसी में चन्द्र तथा सूर्य का लय हो जाता है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इस अवस्था के प्राप्त करने पर भी योगी कृतार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ आकर सुषुप्त होने पर यही मोहरूप में परिणत होती है। जाग्रत् रहने पर नित्य निरावरण प्रकाश के रूप में प्रकट होता है। जाग्रत् रहने का तात्पर्य यही है कि योगी को इस अवस्था में अपनी सत्ता के बोध के विषय में बहुत सतर्क रहना पड़ता है, अर्थात् अनाख्या दशा में आत्मा अपनी सत्ता के बोध को अक्षुण्ण रखने पर सर्वदा के लिए आवरणशून्य प्रकाश के राज्य में उन्नीत होता है, क्योंकि आत्मविमर्श न रहने पर इतना ऊपर उठने पर भी गिरना असंभव नहीं है।

इस महाव्योम के वर्णन के प्रसंग में उत्पलाचार्य ने कहा है—"तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे। सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥"

यहां तक ऊर्ध्व गति प्राप्त होने के बाद भी योगी के चित्त में शंका का उदय हो सकता है, परन्तु शंका उदित होने पर भी योगी स्वात्मानुसंधान रूप प्रयत्न के द्वारा उसका समाधान कर सकते हैं। यदि इस प्रकार का अनुसंधान कोई न कर सके, तब इतने उच्चकोटि से भी योगी का पतन असंभव नहीं है, परन्तु यदि ठीक ठीक आत्मानुसंधान संपन्न हो तब विकल्पात्मक समग्र जगत् अन्तर्मुख पद में लीन हो जाता है। अर्थात् उस समय में आत्मा चराचर विश्व को ग्रास करके उस ग्रास के उल्लास से एक प्रकार की रसमयी स्थिति को प्राप्त करता है। यह स्थिति परप्रमातृ दशा में ही स्थिति है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि "अत्ता चराचरग्रहणात्" अर्थात् आत्मा चराचर विश्व को ग्रास करता है। यह वही स्थिति है। स्वरूपानुसंधान न रहने पर इस स्थिति में ठीक विपरीत अवस्था का उदय होता है। यह प्रमोद विलास के रूप से मित प्रमातृभाव का विस्तार मात्र है।

इसको स्मरण रखना चाहिए कि स्वरूप-गोपन तथा स्वरूप-उन्मीलन दोनों ही पूर्ण दशा में रहते हैं। परन्तु गुरु की कृपा के प्रभाव से स्वरूप गोपन का समूल उपसंहार हो जाता है, अर्थात् महामाया की निवृत्ति हो जाती है और बहिर्मुखी वृत्ति अथवा संसारचक्र स्वात्मरूप अग्नि में अभेद ज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। तब अन्तर्मुख बोध का आश्रय लेते हुए अद्वय स्वरूप में स्थिति होती है। यहां तक प्राप्ति होने पर इसकी आगे की अवस्था बिना प्रयत्न के आप ही आप संघटित हो जाती है। उस समय फिर स्वरूप-गोपन नहीं होता और बाह्य वृत्तियों का भी उदय नहीं होता। इस अवस्था का पारिभाषिक नाम है भावसंहार। उन्नत अवस्था में निर्विकल्पक आत्मसंवेदन का उदय होने पर भावसंहार होता है। इस स्थिति में आत्मस्वरूपभूत प्रदीप्त अग्निराशि में भावमय समग्र विश्व का उपसंहार हो जाता है। परा संविद्रूपा देवी की महिमा से उस समय सब प्रमेयों का समूल उच्छेद होता है। इस अवस्था में जिस प्रकार एक पक्ष में भेद ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार दूसरे पक्ष में हेय तथा उपादेय का बोध भी नहीं रहता। इसीलिए शंकाशून्य तथा कल्पनाशून्य निर्विकल्प स्थिति के रूप में इसका वर्णन मिलता है।

तथापि यह पूर्णाहन्ता स्वरूप नहीं है, क्योंकि इसमें संस्कार रहने के कारण इदन्ताभाव का लेश रह जाता है। जब तक संस्कार की निवृत्ति पूर्णतया न हो, तब तक यथार्थ पूर्णाहन्ता के स्वरूप का उदय नहीं होता। कौल आचार्यों का सिद्धान्त यह है कि पाँच संविद्देवियों से प्रमेय का समूल उच्छेद हो जाने पर भी प्रमेय का संस्कार किञ्चिन्मात्र रह ही जाता है। अतः इस अवस्था में योगी का इस प्रकार स्वात्म-

विमर्श होता है—मैंने ही यह सब अभेद में अवभासन किया है। अर्थात् संहार होने पर भी संस्कार के सत्ता के कारण संहार का परामर्श होता है। इसके अनन्तर यह संस्काररूप उपाधि भी निवृत्त हो जाती है। उस समय परा संवित् का स्वरूप पूर्वोक्त पाचों रूप को आत्मसात् करके प्रकाशमान होता है। जब तक संस्कारात्मक उपाधि विद्यमान रही, तब तक काल की कलना भी कुछ रही, परन्तु संस्कार के नाश के अनन्तर जिस अहंभाव का उदय होता है, वही स्वभावभूत यथार्थ अहं है। योगी की इस समय की अनुभूति में "वही मैं हूँ" इस प्रकार का परामर्श होता है, परन्तु यह भी योगी का आत्मरूपी शिव की पूजा की ही एक उच्च अवस्था है। इसी को लक्ष्य करते हुए उत्पलाचार्य ने कहा था--'त्वामगाधमविकल्पमद्वयं स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम्। आविशन्नहमुमेश सर्वदा पूजयेयमभिसंस्तुवीय च।।" (१३।२०) इसके आगे की स्थिति में परासंवित् जिस रूप में अपने को प्रकाश करती है, वह भिन्न भिन्न रूपों का विकास और उन विकासों का अपने स्वरूप में विलयन सम्पन्न करती है। यह अवस्था संहार से भी अधिक गंभीर है। पहले जो भावसंहार की बात कही गई है, उसमें प्रमेय पर्यन्त का संहार होता है। परन्तु इस समय में संहार का जो स्वरूप प्रकट हुआ है, उसमें प्रमाण पर्यन्त भी समाप्त हो गया है। महाकल्प के अनन्तर जिस प्रकार का संहार होता है, यह उसी के अनुरूप है। इस अवस्था में प्रमेय तथा प्रमाण चिद्रवि दीप्ति में सम्पूर्ण रूप से लीन हो जाते हैं। इस प्रसंग में प्राचीन आचार्यगण एक संभाव्यमान शंका का समाधान करने का प्रयत्न किए हैं। पहले संहार भूमि का जो विवरण दिया गया है, उसके साथ वर्तमान भूमि की तुलना करने पर यह पता चलेगा कि दोनों स्थल में ही शंका का उदय होना संभव है। परन्तु इन दो भूमियों की स्थितिगत विलक्षणता यह है कि निम्न भूमि में यह शंका मिटाने के लिए अपना व्यक्तिगत प्रयत्न या अनुसंधान आवश्यक है, अर्थात प्रयत्न करने पर यह शंका निवृत्त होती है, न करने पर शंका की निवृत्ति नहीं होती, और उससे पतन होता है। इधर ऊपर की भूमि में भी शंका का उदय हो सकता है, यह सत्य है, परंतु इसका समाधान भी अपने आप ही हो जाता है। उसके लिए अपने प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। शंकापद से यह समझना चाहिए कि कर्तव्याकर्तव्य विचार है। यह सदाशिव दशा के अनुरूप है। इस अवस्था में शंका और ग्लानि के उदय होने पर भी ये योगी को बाधक नहीं हो सकती। इस स्थिति में प्रमेय पूर्णरूप से विलीन हो गया, परन्तु प्रमाण स्थित प्रमेय की जीवन शक्ति अभी है। इस जीवनी शक्ति को दार्शनिक परिभाषा में द्वादश इन्द्रिय रूप से वर्णन किया जाता है। आगम के अनुसार यह भी सूर्य का ही एक रूप है। परन्तु इसकी जो परवर्ती अवस्था है, उसमें द्वादश इन्द्रियात्मक सूर्य अहंकाररूपी परम आदित्य में लीन हो जाता है। इस अहंकार को ही प्रमाता कहते हैं। जिसका नामान्तर किसी किसी आगम के अनुसार भर्गशिखा है। परा संवित् के पूर्वोक्त स्वरूपों

में शब्दादि विषय रसों का कैसा आत्मस्वरूप में लय होता है ? इसका विवरण दिया गया है। इस अवस्था में सब कलाओं का उपसंहार हो जाता है, किन्तु केवल परमा अथवा अमा कला रह जाती है। यही शिव-कला है और यही परप्रमातृस्वरूप है।

यह जो अहंकार रूपी परम आदित्य की बात कही गई है, यह परिच्छिन्न कला है। यह स्मरण रखना चाहिए। परम आदित्य के अनन्तर जिस अहं सत्ता का प्राकट्य होता है, वह परम आदित्य से उत्कृष्ट अवस्था है, किन्तु वह भी परिच्छिन्न प्रमाता ही है। उसका पारिभाषिक नाम इस दृष्टि के अनुसार कालाग्निरुद्र है। यह परम आदित्य के ऊर्ध्व में है, किन्तु यह अमित प्रमाता नहीं है। यह एक प्रज्वलित अग्नि सदृश है, जिसमें संसार दग्ध हो गया है। किन्तु पशुत्व का लेश अभी है। योगी जब इस स्थिति में रहता है तब विषय एवं इन्द्रियों का संस्कार का लेश भी नहीं रहता, एकमात्र इन्द्रियातीत निर्विकल्पक प्रमाता ही प्रकाश के रूप में रहता है। इसके बाद रुद्रावस्था के अवसान हो जाने पर भैरवावस्था का उदय होता है। आदित्य के बाद रुद्र और रुद्र के बाद भैरव, यही क्रम है। सबसे पहले भैरव का जो स्वरूप प्रकाश होता है, उसको महाकाल भैरव कहा जाता है। परा संवित् इस भूमि में महाकाली रूप में प्रकाशित होती है। महाकाल भैरव पंचकृत्य सम्पादन करते हैं। परन्तु निरपेक्ष भाव से नहीं, क्योंकि यह स्वतंत्र नहीं है। जिनकी इच्छा यह सृष्टयादि पंचकृत्य सम्पन्न करती है, वह स्वयं जगदम्बा है। इस अवस्था में इस परम तेज के गर्भ में सब प्रकार की परिच्छिन्न अहंता लीन हो जाती है। देहगत अहंता, प्राणगत अहंता, पुर्यष्टकगत अहंता, शून्यगत अहंता इस महा अग्नि में दग्ध होकर एकमात्र विश्व के साथ अभेदमय पूर्ण अहन्ता रहती है। योगी इस अवस्था में आने पर परमशिव सदृश पंचकृत्यकारी होता है। परन्तु परमशिव के पंचकृत्य इस अवस्था में व्यापिनी कला में प्रकाशित होता है। यह किसी किसी का मत है। इसके अनन्तर महाकाल भैरव भी नहीं रहते। इस अवस्था का नाम है महाभैरव दशा। यह महाकाल से अतीत है। इस अवस्था में सब कुछ शान्त होता है। किसी का संस्कार तक नहीं रहता। जिस स्वात्मसंवेदना का क्रमशः अधिक अधिक परिस्फुट होते हुए विकास हो रहा था, यहाँ उसकी पूर्ति होती है। उस समय महाकाली भगवती स्वधाम में अर्थात् अकुल में प्रविष्ट होने के लिए उन्मुख रहती है। इसी से समझ जाना चाहिए कि यह अवस्था काल से कलित नहीं है। व्यापिनी का भेद हो जाने पर समना भूमि में प्रविष्ट होने पर इस अवस्था का उदय होता है। उस समय सृष्टिसंहारात्मक काल नहीं रहता, परन्तु साम्यरूप काल रहता है। उस समय प्रतीत होता है कि मानों काल नहीं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि काल है, किन्तु यह काल साम्यरूपी काल है। उस अवस्था में अनन्त काल एक क्षण के रूप में प्रतीत होता है। उत्पलाचार्य ने इस अवस्था का विवरण अपनी कारिका में दिया है—

न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत् ।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा ।।

इसके बाद जिस अवस्था का उदय होता है, वही क्रमविकास का स्वरूप है। यही परमशिव की अवस्था है। इसी स्थान में परासंविद्देवी का स्वरूप साक्षात्कार होता है। देवी पूर्णरूपा है, अपूर्णरूपा है। एक साथ दोनों है। यह अघटित घटना पटीयसी है। जब यह स्वाश्रित देवियों का उदय करती है प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति आदि समस्त पदों का और सृष्ट्यादि समस्त चक्रों का विकास करती है, तब यह पूर्ण कहलाती है। जब यह इन सब को आत्मलीन कर लेती है और केवलमात्र कालसंकर्षिणी नाम का चक्र अवशिष्ट रहता है, तब यही कृशा कहलाती है। इस परम स्थिति में क्रम नहीं है, न भोगपक्ष ही है, अर्थात् क्रमाक्रम का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। क्रम विज्ञान देवी का क्रमविकास होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस विकार के फलस्वरूप प्रमेयादि क्रमशः स्वयं संवित्तिरूप में भासमान होते हैं। यही जीव का पूर्णत्वलाभ है। अखण्ड संविद्रूपा मां, बोधरूपी सच्चिदानन्द परब्रह्म, अथवा परम शिव आगम में जीव की आत्मसाधना का परम लक्ष्य हुआ है, वह यही अवस्था है। महास्थिति में सभी रहते हैं, अथवा इससे रहना एवं न रहना में भी विरोध नहीं रहता। अत एव जीव, जगत् एवं ईश्वर सब का जो परम स्वरूप है, खण्ड या अखण्ड रूप में प्रकाश होने पर भी उनका अपना अपना वैशिष्ट्य यहां अक्षुण्ण रहता है। इस अवस्था में परम प्रकाश अखण्ड होने के कारण जितने अवान्तर भेद हैं, इसके साथ सब अभिन्न रूपेण प्रकाशित होते हैं। जीव की अनादि काल की त्रिताप ज्वाला इस पूर्णत्व में अवगाहन करने के बाद सर्वदा के लिए शान्त हो जाती है, वस्तुतः यही परम पद है।

निजानन्द प्रकाशानन्द मल्लिकार्जुन योगीन्द्र

म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

प्रायः पच्चीस वर्ष पहले मेरे एक मित्र अपने एक मित्र के व्यक्तिगत ग्रन्थागार से एक प्राचीन तन्त्र की हस्तलिखित पोथी देखने के लिए लाए थे। कुछ दिन के लिए वह पोथी मेरे पास रही। यह एक अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा। उसका नाम था 'श्रीक्रमोत्तम' अथवा 'प्रासादपरापद्धति'। यह चार उल्लासों में विभक्त श्रीविद्या की प्रसिद्ध पद्धति थी। इसके रचयिता ने अपना निजानन्द प्रकाशानन्द मल्लिकार्जुन योगीन्द्र नाम से उल्लेख किया था। आदि से अन्त तक यह पुस्तक हम पढ़ चुके थे। इससे हमको यह प्रतीत हुआ कि यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। यह ग्रन्थ केवल साधकों को ही उपयोगी नहीं, अपितु तान्त्रिक सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से भी अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ। ग्रन्थकार साक्षात् नारायण के अवतार श्रीनृसिंह के शिष्य माधवेन्द्र सरस्वती के शिष्य रहे। डा० राजेन्द्र लाल मित्र की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में (Notices, vol. VII No. 2261) इस पुस्तक का विवरण दिया है। जिससे यह पता चलता है कि इस पुस्तक का रचनाकाल शकाब्द, १४३५ या १५१३ खिस्ताब्द था। मैंने जिस पुस्तक का अवलोकन किया था, उसमें उसका लिपिकाल सं० १७३७ अर्थात् १६८० खि० दिया था।

एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल में भी इस पुस्तक की एक प्रति है। (No. 6322) इसमें भगवान् श्रीशंकराचार्य की गुरु परम्परा दी हुई है। वह इस प्रकार की है—

शिव, विष्णु, प्रजापति, ब्रह्मा, वशिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास, शुक, गौडपाद, गोविन्द, शंकराचार्य। इस ग्रन्थ में शंकर की शिष्य-परम्परा का नाम भी अपनी धारा के अनुसार दिया है—शंकराचार्य, विश्वरूपाचार्य बोधघनाचार्य, ज्ञानघन, ज्ञानोत्तम शिव, ज्ञानगिरि, सिंहगिरि, ईश्वरतीर्थ, नृसिंहतीर्थ, विद्यातीर्थ शिव, भारतीतीर्थ, विद्यारण्यगिरि, मलयानन्द, देवतीर्थ सरस्वती, यादवेन्द्र सरस्वती, कृष्ण सरस्वती, नृसिंह सरस्वती, माधवेन्द्र सरस्वती, निजप्रकाशानन्द।

इस पद्धति का नामान्तर है—गद्यवल्लरी (द्रष्टव्य—मित्र, भाग ७, २२६१)। इसका नामान्तर श्रीविद्यापद्धति भी है (द्रष्टव्य, बीकानेर काटलाग नं० १३५)। क्रमोत्तमपद्धति (विद्या १२६३), महात्रिपुरसुन्दरीपादुकार्चनक्रमोल्लास (इण्डिया आफिस, नं० २६००) यह सब इसी ग्रन्थ के नामान्तर प्रतीत होते हैं।

इस ग्रन्थ में सुन्दराचार्यपद्धति का उल्लेख है। यह सुन्दराचार्य ही जालन्धर वासी योगी सच्चिदानन्द हैं, जिनकी रचित ललितार्चनचन्द्रिका नाम की पुस्तक मध्य युग में अत्यन्त प्रसिद्ध रही। (द्रष्टव्य—मद्रास पी० आर० ३९६९ सीरियल नं० १८१८८)। लघुचन्द्रिकापद्धति नाम से एक संक्षिप्त पद्धति भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। इन सुन्दराचार्य के शिष्य थे प्रसिद्ध विद्यानन्दनाथ, जिनका पूर्वाश्रम का नाम श्रीनिवास भट्ट था। विद्यानन्द अपने गुरु के आदेश से काशी में आकर वास करने लगे, यह भी ज्ञात है। श्रीविद्यानन्द के शिष्य थे श्रीनित्यानन्दनाथ जिन्होंने दुर्वासा कृत त्रिपुरमहिम्नस्तोत्र की या देवीमहिम्नस्तोत्र की एक टीका लिखी थी। उनकी बनाई हुई ताराकल्पलतापद्धति नाम की एक किताब रही॥

इच्छाशक्ति

म० म० पं० गोपीनाथजी कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्र विभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

योगी के आध्यात्मिक मार्ग में इच्छाशक्ति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आत्मा का अथवा परमेश्वर का अनन्त शक्तिप्रपञ्च, प्रसिद्ध शक्तिपंचक के अन्तर्गत माना जाता है, यह बिलकुल ठीक है कि यह शक्तियाँ सामरस्य भूमि में एकाकार होने पर भी आन्तर तथा बाह्य विभाग के अनुसार अन्तरंग तथा बहिरंग रूप से वर्णन करने के योग्य हैं। इनमें बहिरंग शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया का रूप लेकर त्रिकोण के आकार में प्रकाशित होती है और अन्तरंग शक्ति चित् तथा आनन्द का रूप लेकर स्वरूपशक्ति के नाम से वर्णित होती है। स्वरूप रूप है सत्, अत एव सत् अथवा सत्त्व (सत्ता) स्वरूप की अन्तरंग शक्ति है। चित् और आनन्द संवित् और ह्लादिनी शक्ति कहलाती है। बहिरंग शक्ति पूर्वोक्त इच्छा, ज्ञान, क्रिया है।

इधर से देखा जाय तो प्रतीत होता है कि सत्त्व की स्वरूपशक्ति में भेद न रहने पर भी किंचित् वैलक्षण्य है। तदनुसार चित् है आन्तर और आनन्द है बाह्य। यह कहना नहीं होगा कि चित् का प्रसार ही आनन्द है, क्योंकि चित् शक्ति का स्फुरण न होने पर आनन्द का उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु आनन्द का स्फुरण न रहने पर भी चित् का स्फुरण रहता है।

दूसरी दृष्टि से आनन्द सुख वाचक नहीं है। आत्मा का अन्य निरपेक्ष पूर्णत्व ही आनन्द है।

स्थूल दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलता है कि आनन्द की सत्ता पूर्वसिद्ध न होने पर इच्छा का उदय हो नहीं सकता, क्योंकि आनन्द स्वरूपतः अक्षोभ्य होने पर भी जब तक उसमें स्वातन्त्र्य से क्षोभ उत्पन्न नहीं होता, तब तक इच्छा का उदय नहीं हो सकता। जिस स्थिति में आनन्द अक्षुब्ध तथा अक्षोभ्य रहता है, उसमें इच्छा के उदय की संभावना नहीं है। पक्षान्तर में यह अवश्य ध्यान रखने का विषय है कि इच्छा के न रहने पर भी आनन्द रह सकता है। परन्तु इच्छा निवृत्ति रूप आनन्द अथवा तृप्ति से इच्छा के अनुदय रूप आनन्द में अर्थात् शान्ति में वैलक्षण्य है।

इच्छा के उन्मेष से ही सृष्टि का उदय होता है। अर्थात् विश्व का आविर्भाव होता है, परन्तु स्थूल दृष्टि से यह प्रश्न हो सकता है कि यह इच्छा किसकी है ? क्या यह योगी की इच्छा है ? अथवा स्वरूप-प्रतिष्ठित आत्मा की इच्छा है। वस्तुतः यह इच्छा मूल में आत्मा की ही है। इच्छा के सामान्य तथा विशेष दो रूप हैं, यह स्मरण रखना नितान्त आवश्यक है। सामान्य इच्छा एक प्रकार से देखा जाय

तो निर्विषयक इच्छा है। यद्यपि यह इच्छा स्थूल दृष्टि से विषयहीन नहीं हो सकती, तथापि विशेषार्थ के अभाव से यह सामान्य कोटि में निविष्ट होने योग्य है। अर्थात् इच्छा है, किन्तु किस विषय की इच्छा है, यह अब तक स्फुरित नहीं है। इच्छा में ही प्रारम्भिक स्थिति में इच्छा का कर्म गुप्तरूपेण निहित है। सामान्य रूप से इच्छा का उदय होने से यह समझना चाहिये कि आत्मा की दृष्टि बहिर्मुख हुई। आनन्द दशा में दृष्टि अन्तर्मुख रहती है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप में निविष्ट रहती है। जब दृष्टि बहिर्मुख रहती है, तब दृष्टि के सामने एक निर्विशेष सामान्य रूपी सत्ता प्रतिभासित होती है, जिसको कोई-कोई चिदाकाश या चिद्व्योम भी कहते हैं। वास्तव में यह चिदाकाश नहीं है, किन्तु यह आनन्द की ही पृष्ठभूमि की अवस्था है।

वस्तुतः चिदवस्था में आकाश है, आनन्द की अवस्था में भी है और इच्छा में भी है, परन्तु इन तीनों में परस्पर वैलक्षण्य है। यह बाह्यसत्तारूपी आकाश व्यापक सत्ता स्वरूप है, इसमें संदेह नहीं है और इच्छा का विशिष्ट विषयरूपी अर्थ उस व्यापक सत्ता में गूढरूप से विराजमान है, यह सत्य है। इच्छा का विशेष स्फुरण होने पर वह सत्ता बाह्य अर्थ रूप में प्रकट होती है। इसी को सृष्टि कहा जाता है। आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' (माण्डूक्य-कारिका) यह सत्य बात है।

सृष्टि शब्द से क्या समझना चाहिये ? तान्त्रिक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार बिन्दु से विसर्गभाव का उदय ही सृष्टि है। पक्षान्तर में विसर्ग की बिन्दुरूप में परिणति ही प्रलय या संहार कहलाती है। क्षेत्रमिति की दृष्टि से जैसा Point (बिन्दु) और Line (रेखा) का संबंध है, बिन्दु तथा विसर्ग का परस्पर संबंध भी ठीक इसी प्रकार का है। विसर्ग का अन्ततः अनन्त वैचित्र्य है। इसकी समालोचना यहाँ अप्रासंगिक है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अर्थ के आविर्भाव में ही सृष्टि शब्द का मुख्य तात्पर्य है। अर्थ माने पदार्थ, अर्थ की समष्टि ही विश्व है, अर्थात् कार्य रूप जगत् है। चिदात्मस्वरूप में इस अर्थ अथवा विश्व चिदात्मा की सत्ता अभिन्न रूप से नित्य वर्तमान है। अर्थ अनन्त हैं और सभी चिदात्मा में अन्तः स्थित हैं, परन्तु जब आत्मा में इच्छा का उदय होता है, अथवा आत्मा इच्छा करती है, तब यह अर्थ बाहर प्रकाशित होता है। साधारणतया इसी को सृष्टि कहा जाता है।

अर्थ के बहिःप्रकाश शब्द से क्या समझना चाहिये ? एक दृष्टि से बहिःप्रकाश के अनुरूप इसका अन्तःप्रकाश भी है और अन्तःप्रकाश के ऊर्ध्व में इसकी जो स्थिति है, वही अर्थ का चिदात्मरूप है। इसी को शक्ति कहा जाता है। शक्ति दृष्टि में यह नित्य सिद्ध है। यह अत्यन्त स्थूल विश्लेषण है। किन्तु वर्तमान लेख के लिये यही पर्याप्त है।

कहा गया है कि अर्थ का बहिःप्रकाश ही सृष्टि है। वस्तुतः अर्थ का अन्तःप्रकाश भी सृष्टि के ही आदिपर्व के अन्तर्गत है। इसकी सूचना भी दी गई है। विश्लेषण-समर्थ योगी इन दोनों प्रकाशों को पृथक्‌रूप से ग्रहण करते हैं। इनमें अन्तःसृष्टि ज्ञान का खेल है, एवं बाह्यसृष्टि क्रिया का खेल है। दोनों के मूल में इच्छा का उदय माना जाता है। अर्थात् इच्छा ही बीज रूपी भाव-सत्ता का प्राकट्य माना जाता है। इच्छा की अतीत अथवा ऊर्ध्व की अवस्था, अर्थात् जब कि इच्छा का उदय भी नही हुआ है, कहीं आनन्द की अवस्था कही जाती है, जहाँ बीज भी नहीं रहता है। आनन्द के क्षुब्ध होने पर इच्छा का उदय होता है, अर्थात् बीज का उन्मेष होता है। अर्थात् इच्छा की निवृत्ति होने पर आनन्द-स्वरूप का प्रकाश होता है। अतः मूल में उपनिषदों में भी आनन्द को ही सृष्टि का मूल माना है। द्रष्टव्य—"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"।

इच्छा-भूमि में बीज सत्ता है, यह कहा गया है। यह एक अत्यन्त कठिन तत्त्व है, जिसका समाधान शुद्ध बुद्धि से हो सकता है। यह बीज ही आकार, आकृति (Form) (Idea) है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह आकार निरवयव है। आनन्द अवस्था में यह निर्बीज है। इच्छा की दशा में यह बीजरूप होकर प्रकाशित होता है। एक प्रकार से किसी-किसी की दृष्टि के अनुसार यह भाव कहा जा सकता है। ज्ञान की भूमि में इसका अन्तःप्रकाश होता है। यह Idea का ही अर्थात् भावात्मक ज्ञान का ही बहिर्मुख भाव है। ज्ञान ही यहाँ पर साकार है। ज्ञान से पृथक् ज्ञेय कुछ नहीं है, ज्ञान ही एकाधार में ज्ञान होते हुए ज्ञेय भी है। अर्थात् ज्ञान साकार और स्वाकारविषय स्वयं है। दृष्टान्त के रूप में एक फूल लिया जाय, बीज अवस्था में यह फूल भावमात्र है। यह भाव अव्यक्त, किन्तु साकार एवं निरवयव है। परन्तु ज्ञान की भूमि में यह आकार व्यक्त है। अर्थात् ज्ञान में प्रकाश मात्र है, परन्तु अपने में ही अपना प्रकाश है। दूसरे के निकट इसका प्रकाश नहीं होता, अर्थात् इसमें बाह्य सत्ता नहीं है और यह इन्द्रिय गोचर नहीं है। यह विभिन्न प्रमाताओं के दर्शन का विषय भी नहीं है। ध्यानज दर्शन, स्वप्न-दर्शन इसी श्रेणी का है। यह व्यक्तिगत असाधारण दर्शन है। ज्ञानमय आकार का अन्तःप्राकट्य है। पूर्वोक्त अर्थ का अन्तःप्रकाश है। भौतिक इन्द्रिय ग्राह्यरूप में प्रकाश ही सृष्टि है। यह क्रिया-शक्ति का विषय है। अन्तःप्रकाश अथवा ज्ञानाकार प्रकाश जैसे इच्छा का फल है, उसी प्रकार भौतिक रूप में बाह्य प्रकाश भी इच्छा का ही अन्तिम फल है।

यह जो साकार रूप में अर्थ का प्रकाश (As an Idea) है, इसको योगी की सृष्टि नहीं कहा जाता। ज्ञान की सृष्टि प्रातिभासिक है। क्रिया-भूमि की सृष्टि व्यावहारिक है। ज्ञानाकार सृष्टि ही अन्त में बाह्य अर्थ रूप में प्रकाशित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि जागतिक सृष्टि-व्यापार में जैसे हम निमित्त एवं उपादान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, क्या उसी प्रकार इच्छाशक्ति की सृष्टि की पूर्णावस्था में भी दोनों की आवश्यकता मानी जा सकती है ? क्योंकि विना उपादान कारण बाह्य सृष्टि हो नहीं सकती। उत्तर में कहा जाता है कि—"योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्"। इसका तात्पर्य यह है कि शाक्त-दृष्टि में योगी परतत्त्व में विशाल एवं अद्वय भूमि में निविष्ट होने के कारण बाह्य सृष्टि के समय में अखण्ड निजसत्ता से ही कार्य का उपादान संग्रह कर लेता है, बाह्य प्रकृति से नहीं।

क्या बाह्य प्रकृति से उपादान संग्रह कर सृष्टि करना सम्भव है ? हाँ है। किन्तु किसी-किसी के मत में इस प्रकार की सृष्टि इच्छा-शक्ति अथवा योगी के सृष्टिरूप में वर्णित होने योग्य नहीं है। मेरे श्रीगुरुदेव इस प्रकार की सृष्टि को विज्ञान सृष्टि कहा करते थे। प्राकृतवर्षी योगी प्रकृति से उपादान लेकर अर्थ सृष्टि करते हैं। इसका नियामक है, उनकी अपनी इच्छा। यह भी ऐश्वर्य की सृष्टि है, किन्तु निमित्त एवं उपादान में अन्तर है। निमित्त में ऐसी इच्छा का उपादान है गुणमयी प्रकृति, परन्तु जिस योगी की स्थिति में अपने से प्रकृति की अलग सत्ता नहीं है, किन्तु एक अखण्ड सत्ता ही है, वहाँ पर निमित्त और उपादान के भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। चिदात्मा के स्वरूप से इच्छारूपिणी शक्ति अभिन्न है। इसी प्रकार अपेक्षित उपादान भी अभिन्न है। पर-योगी की अवस्था इस प्रकार की होती है।

(२)

मेरे श्रीगुरुदेव इच्छा-शक्ति की सृष्टि और विज्ञान की सृष्टि नाम से दोनों प्रकार की सृष्टि का प्रत्यक्ष प्रदर्शन करते थे और उसका रहस्य समझाते थे। दोनों सृष्टि भौतिक इन्द्रिय ग्राह्य, व्यवहार योग्य, बाह्य स्थिर पदार्थ का आविर्भूत रूप है। इसका स्वरूप अस्थायी प्रतिभासरूप नहीं है, परन्तु दोनों की उत्पत्ति प्रणाली में भेद है। वस्तुतः व्यवहार-भूमि में योगी शब्द का प्रयोग विभिन्न स्थानों पर होने पर भी शाक्त दृष्टि से यथार्थ योगी वहीं है, जो अद्वय-भूमि में स्थित है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति, माया, महामाया, यहाँ तक की चिच्छक्ति पर्यन्त समग्र सत्ता ही परम योगी के स्वरूप से अभिन्न है। यही स्वसत्ता योगी की इच्छा के अनुसार निमित्त तथा उपादान दोनों ही बन जाती है। इसी लिये इच्छाशक्ति की सृष्टि में बाहर से (कार्य का) उपादान का आकर्षण नहीं करना पड़ता। आत्मा ही अपने संकल्प के अनुसार तत्तत् पदार्थ के रूप में स्फुरित होता है। इस प्रकार की सृष्टि करने में योगी की आध्यात्मिक शक्ति की हानि होती है। अवश्य यह साधारण नियम है।

यदि योगी की इच्छा महाइच्छा का प्रतिफलन मात्र हो तो हानि का प्रश्न नहीं उठता। इसीलिये इच्छा करना, इच्छा होना इन दोनों में पार्थक्य माना जाता

है, किन्तु इस बात को मानना होगा कि दोनों प्रकार की इच्छा शक्ति-पद्वाच्य है। श्री श्रीगुरुजी की परिभाषा में जिसका नाम विज्ञान-सृष्टि है।

विज्ञान-सृष्टि में भी इच्छा की आवश्यकता होती है, परन्तु उस इच्छा को इस दृष्टि में इच्छाशक्ति नहीं कहा जाता। उस इच्छा का कार्य त्रिगुणात्मिका प्रकृति से यथायोग्य उपादान का आकर्षण करके उसको स्थूल तक लाना है। पूर्व वर्णित विज्ञान-सृष्टि में उपादान विषय अपरोक्ष ज्ञान की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार की सृष्टि में जिस प्रकार ज्ञान का उपयोग है, उसी प्रकार क्रिया की भी आवश्यकता है। यह उपादान दृष्टि के भेद से कहीं किसी का नाम तथा रूप से परिचित है और कहीं दूसरे नाम से इसका निर्वचन किया गया है। रश्मि, मातृका, परमाणु, तन्मात्रा-विभिन्न प्रस्थानों में विभिन्न-विभिन्न नामों का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि का वचन—"अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः" भी इस उपादान को ही लक्ष्य में रखकर कहा गया है। इस मत के अनुसार कार्य के कारणभूत अवयवों का जो संस्थान है, उसका ज्ञान आवश्यक होता है। इन अवयवों में क्रम, मात्रा, पूर्वापर प्रभाव सब कुछ है। वैज्ञानिक सृष्टिकर्ता को इन सब का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। विज्ञान का यही ज्ञानांश है। इन उपादानों का मूल से आकर्षण करके क्रमशः विन्यास करना पड़ता है। विन्यास के माने हैं निक्षेप करना। अर्थात् रश्मियों को आकर्षण करके विशुद्ध सत्त्व अथवा शुभ्रसत्ता के ऊपर छोड़ना। ऐसा न करने से एक उपादान से दूसरे उपादान का परस्पर संयोग संघटित नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक उपादान क्षणमात्रस्थायी या क्षणभंगुर है। यह विन्यास की रचना क्रिया-शक्ति का खेल है। दृष्टान्त स्वरूप—वर्ण और पद में अथवा पद और वाक्य में परस्पर सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है। जैसे नदी पद में न्-अ द्-ई यह चार अव-यव हैं, जो कि निर्दिष्ट क्रम से रखे हुए हैं। यह जो क्रम है, इसको जानना ही वैज्ञानिक का अपेक्षित ज्ञान है। यही आकार का Formula है। इसके अनन्तर क्रिया का व्यापार होता है। जिसमें सबसे पहले, मूल से न् को आकर्षण करना पड़ता है। उसके अनन्तर अ का भी आकर्षण करना पड़ता है। साथ-ही-साथ दोनों की योजना भी करनी पड़ती है। यह योजन-क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योंकि प्रत्येक वर्ण ही आशुविनाशी है। न् उद्भूत होकर ही तिरोहित होने वाला है। अ भी ठीक इसी प्रकार का है। न् तथा अ का यौगपद्य है नहीं, तो योग किस प्रकार होगा? इसी प्रकार परवर्ती वर्णों में भी समझना चाहिये। इस कठिनाई को दूर करने के लिये अधिष्ठान के रूप में स्थायी शुद्धसत्त्व के रूप की आवश्यकता होती है। जिसके ऊपर प्रतिवर्ण को क्रम से निक्षेप करना पड़ता है। इस शुभ्र वर्ण का आधार के रूप में यदि ग्रहण न किया जा सके, तब किसी वर्ण के साथ किसी वर्ण का समाहार हो नहीं सकता। अतः क्रियाप्रयोग के समय एक-एक वर्ण का क्रम के अनुसार उसी आधार में आकर्षण करना आवश्यक है। अन्त तक

यही परिपाटी माननी पड़ती है। अर्थात् जब तक अन्तिम उपादान का उद्भव और स्थापन न हो, तब तक इस प्रक्रिया का अवलम्बन करना चाहिये। इसके प्रभाव से अर्थ का स्फुरण होगा। जब तक यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं होगी, तब तक अर्थ का प्रकाश नहीं होता। मातृगर्भ में जैसे देह के अवयवों का संयोग होकर निर्माण होता रहता है, इसी के अनुसार यह भी है। अन्त में बाह्य स्फूर्ति होती है। मूल में यह उपादान अभिन्न होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम से परिचित हैं, किन्तु प्रक्रिया एक ही है।

अत एव विज्ञान-सृष्टि में ज्ञान और क्रिया का परस्पर सम्बन्ध है। इसमें इच्छा का प्राधान्य नहीं है। ज्ञानयुक्त क्रिया की ही प्रधानता है। परन्तु इच्छा-शक्ति की सृष्टि में इच्छा ही प्रधान है। ज्ञान तथा क्रिया-भूमि का क्रमिक व्यापार गौण है और इच्छामूलक है। इस विषय पर अधिक आलोचना करना अप्रासंगिक है।

(३)

यदि परयोगी पुष्प की सृष्टि करें तो वह उनके आत्मस्वरूप से अभिन्न प्रतीत होगा। परन्तु विज्ञानवित् सिद्ध पुरुष यदि किसी पुष्प की सृष्टि करेगा तो वह पुष्प अपने स्वरूप से भिन्न प्रतीत होगा। विज्ञानवित् की सृष्टि इच्छा के प्रभाव से ज्ञान तथा क्रिया के अवलम्बन द्वारा विक्षुब्ध प्रकृति से उद्भूत एक परिणाम मात्र है। यह इच्छा, इच्छा-शक्ति नहीं है। यह क्रिया भी, क्रिया-शक्ति नहीं है।

इस विषय में सूक्ष्म वैचारिक दृष्टि डालना आवश्यक है। ज्ञानभूमि में जो पुष्प का भान होता है, वह ज्ञानाकार स्वसंवेद्य है। वाह्य अर्थ रूप भौतिक-सत्ता उसमें नहीं है। मानों ज्ञान ही पुष्प के रूप में है। उसका आकार ज्ञानमय है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ज्ञान के बाहर अज्ञान है। जब वह पुष्प ज्ञान-भूमि से स्खलित होकर अज्ञान में गिरता है, तब वह क्रियात्मक होकर मायिक तथा भौतिक रूप धारण करता है। उसी समय वह बाह्य-सत्ता रूप में परिगणित होता है। इस भौतिक सत्ता का उपादान वह स्वयं ही आकर्षण कर लेता है और इस आकर्षण व्यापार के अंश में त्रुटि नहीं होती। यह स्वभाव का नियम है। बीज भूमि में निक्षिप्त होने पर मिट्टी से, जल से, वायु से, सूर्य की किरणों से अपने उपादान का आकर्षण करके अंकुरित होता है, तथा क्रमशः विकसित होता है। यहाँ भी इसी प्रकार का नियम लागू होता है। यही वस्तुतः योनि-तत्त्व का रहस्य है। ज्ञानरूप पुष्प मायारूप अर्थात् क्रियारूप योनि में निक्षिप्त होने पर स्थूल रूप में परिणत हो जाता है। इसमें बहुत गम्भीर रहस्य की बाते हैं। परन्तु विशेष विवरण यहाँ अनपेक्षित है। निरवयव निराकार लिंग-ज्योति से सावयव साकार रूप का उद्भव होता है, यही शरीरपदवाच्य है। ब्रह्मसूत्रकार ने कहा है "योनेः शरीरम्" योनि शब्द से माया समझना चाहिये।

इच्छा-शक्ति की सृष्टि अर्थात् योगी की सृष्टि तथा विज्ञान की सृष्टि में एक मूलगत भेद लक्षित होता है। विज्ञान-सृष्टि का तात्पर्य यह है कि ईशित्व अथवा प्रकृति-वशित्व-सम्पन्न सिद्ध पुरुष की इच्छा से प्रकृतिरूप उपादान को क्रिया-कौशल से इच्छानुरूप आकार में परिणत करना है। विज्ञानवित् पुरुष योगी नहीं भी हो सकता। उसी प्रकार योगी अथवा इच्छा-शक्ति-सम्पन्न पुरुष विज्ञानवित् नहीं भी हो सकता, परन्तु यह सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि इच्छा-शक्ति और विज्ञान-वेतृत्व दोनों गुण एक व्यक्ति में हो सकते हैं। योगी की सृष्टि में बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं है। चिदात्मा स्वयं ही अहं होकर भी इदंरूपेण प्रकट होता है।[1]

शाक्त योगी को प्रकृति से बाह्य उपादान नहीं लेना पड़ता। वह अपनी आत्म-सत्ता के स्वातन्त्र्य से ही संकुचित होकर बाह्य सत्ता के रूप में अपने को स्फुरित करता है और उपादान का काम करता है। अर्थात् योगी की सृष्टि में अहं रूपी आत्मा ही अहं रूप में रहते हुए भी इदं रूपी पुष्प का आकार धारण करते हैं। यह केवल ज्ञान की भूमि में नहीं, अर्थात् मनोग्राह्य अन्तराभास रूप में नहीं, अपितु क्रियाभूमि में इन्द्रिय गोचर बाह्य सृष्टि रूप में भी होती है। यह बाह्य सृष्टि सर्वसाधारण जीवों के दृष्टिगोचर है। दूसरे प्रकार से कहा जा सकता है कि यह प्रातिभासिक सत्ता मात्र न होकर इन्द्रिय-गोचर एवं व्यवहार-गोचर त्रिकाल स्थायी बाह्य अर्थ के रूप में सृष्ट होता है। इच्छा-शक्ति की सृष्टि में ज्ञान-भूमि में जिस पुष्प का प्रकाश होता है, वह वस्तुतः पुष्प का आकार लेकर ज्ञान का ही प्रकाश होता है और आभ्यन्तरीय है, परन्तु भौतिक तथा बाह्य नहीं है। यह ज्ञानाकार पुष्प वस्तुतः ज्ञाता योगी का ज्ञानाश्रित निजसत्ता का ही पुष्प रूप में स्फुरण है। जो केवल उस ज्ञानी का ही मनोग्राह्य अथवा कभी-कभी वशीकृत अन्य व्यक्ति के भी मनोग्राह्य है। वह साकार ज्ञान-विशेष है।[2] परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सृष्टि अर्थात् ज्ञानात्मिका सृष्टि साकार होने पर भी निरवयव है। जैसा दर्पण स्थित प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, यह भी प्रायः उसी प्रकार का है। दर्पण में प्रतिबिम्बित पुष्प पुष्पाकार होने पर भी वस्तुतः आलोकमात्र है, अथवा आलोकमात्र होने पर भी पुष्पाकार विशिष्ट आलोक

---

१. इस प्रसंग में सुरेश्वराचार्य की निम्नोक्त कारिका उल्लेखनीय है। श्रीशंकराचार्य कृत दक्षिणामूर्ति स्तोत्र के संदर्भ में लिखा है—"बीजाद् वृक्षस्तरोर्बीजं पारम्पर्येण जायते। इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं योगिदृष्टान्तकीर्तनम्॥ विश्वामित्रादयः पूर्वं परिपक्वसमाधयः। उपादानोपकरणप्रयोजनविवर्जिताः। स्वेच्छया ससृजुः स्वर्गं सर्वभोगोपबृंहितम्॥ ईश्वरोऽनन्तशक्तित्वात् स्वतन्त्रोऽन्यानपेक्षया। स्वेच्छामात्रेण सकलं सृजत्यवति हन्ति च॥" इसके अनन्तर एक कारिका में लिखा है कि ज्ञातृत्व और कर्तृत्व वस्तुतः उनका स्वातंत्र्य ही है। इच्छा-शक्ति का वैचित्र्य भी उनकी स्वच्छन्दकारितामात्र है।

२. योगाचारी साकार-विज्ञानवादी बौद्ध इसका रहस्य अच्छी तरह समझते हैं।

है, यह भी किसी-किसी अंश में उसी प्रकार का है। वस्तुतः यह अहं होने पर भी इदंरूपेण भासमान सत्ता विशेष है।

विशेष रूप से ध्यान रखने वाली बात यह है कि इस भूमि तक योगी में देहाभिमान नहीं है। परन्तु ज्ञान-भूमि से अवतीर्ण होकर जब योगी क्रिया-भूमि में अवतीर्ण होते हैं, तब वह आभासरूप बाह्य भौतिक इन्द्रिय-गोचर व्यवहार-जगत् के पुष्प रूप में परिणत होते हैं। सृष्टि इस परिणति का ही नामान्तर है। इच्छा में जो अहं रूप में रहा, ज्ञान में जो अहं होकर भी इदंरूपेण रहा, अब वह अहं से अर्थात् योगी को देह रूपी अहं से विभिन्न होकर उससे भिन्न पुष्प नामक पदार्थरूप में प्रकट होता है। यही मायिक सृष्टि का रूप है। इच्छा में अभेद, ज्ञान में भेदाभेद, क्रिया में भेद, यही क्रम है।

'मैं पुष्प चाहता हूँ' योगी की इस इच्छा में योगी की निज-सत्ता ही बीजभूत पुष्पात्मक है। इसके अनन्तर ज्ञान-भूमि में यह बीजात्मक पुष्प ज्ञान का आकार लेकर खिल जाता है। इस स्थिति में स्वयं ही ज्ञाता है और ज्ञान भी स्वयं है। इच्छा सम्पन्न योगी एक दृष्टि से ज्ञाता रूप में विद्यमान है और दूसरी दृष्टि से ज्ञानात्मक पुष्परूप से विद्यमान है। वह स्वयं ही अपने को पुष्परूपेण देख रहा है। इसके अनन्तर अपने से, अर्थात् ज्ञानांश से, अपने को अर्थात् पुष्पांश को पृथक् करता है। यही बाह्यार्थ-सृष्टि है।

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानाकार आन्तरिक सत्ता ज्ञान के बाहर प्रक्षिप्त होती है, अर्थात् आन्तर पुष्प को Project किया जाता है, तब प्रयोजन के अनुसार वह भौतिक उपादानों को आकर्षण करके स्थूल भाव प्राप्त करता है। इसमें भी क्रम है। गर्भाधान के अवसर पर मातृगर्भ में पितृबिन्दु का निषेक होता है। इस निषेक के समय से प्रसव के समय तक वही बिन्दु गर्भोदक में रहकर देह के आकार में परिणत होता रहता है। जब प्रसव होता है तो समझना चाहिये कि बाह्यरूप का परिग्रह ठीक-ठीक हो गया। क्रिया-शक्ति के व्यापार में अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर, स्फुटतम चार अवस्थायें हैं। तदनुसार अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर अवस्था बाह्य होने पर भी प्रसव के तुल्य अन्तिम बाह्य अवस्था नहीं है। प्रसव अवस्था ही क्रिया की स्फुटतम अवस्था है। इससे यह सिद्ध होता है कि अस्फुट से स्फुट और स्फुटतर अवस्था पर्यन्त भी अर्थ बाह्य होने पर भी इन्द्रिय-गोचर नहीं है।

जिसे गर्भ विज्ञान कहा जाता है वह वस्तुतः अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर अवस्था का परिचायक है। यह योनिज सृष्टि का विवरण है। एक बात इस प्रसंग में कहना उचित प्रतीत होता है कि उसके अतिरिक्त अयोनिज सृष्टि भी है। इच्छा-शक्ति से ज्ञान-भूमि द्वारा क्रिया-शक्ति में अवतरण होता है, यह बात वस्तुतः योनिज तथा अयोनिज उभय क्षेत्र में सत्य है। ज्ञान-भूमि से झटका देकर साकार बीज को बाहर निक्षेप किया जाता है। अन्तराल की तीन भूमियों का अतिक्रमण करके बाहर आने

पर उस सृष्टि को योनिज सृष्टि कहा जाता है, किन्तु यदि ज्ञान-भूमि से ही तीव्र झटके (Jurck) के प्रभाव से साकार सत्ता स्फुटतम अवस्था में निक्षिप्त हो, तब उस स्थिति में जिस सृष्टि का आविर्भाव होता है, इसको किसी अंश में अयोनिज सृष्टि माना जाता है। यद्यपि इसमें भी ज्ञान-शक्ति का क्रिया-शक्ति में अवतरण है, तथापि इसमें योनि संसृष्ट मल का विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। अतः यह प्रायः विशुद्ध सृष्टि कहलाती है। किन्तु सम्यग् विशुद्ध सृष्टि यह भी नहीं है, क्योंकि इसमें भी माया का किंचित् सम्बन्ध है। जब परम योगी किसी को स्थूल रूप में दर्शन देते हैं, वह स्थूल रूप के अनुरूप होने पर भी वास्तव में विलक्षण है। वह पञ्चेन्द्रियों के गोचर होने पर भी अर्थात् दृश्यस्पृश्यादि रूप में प्रकट होने पर भी वस्तुतः उसमें दैहिक उपादान देह, मांस, अस्थि प्रभृति कुछ नहीं रहता। वह प्रयोजन होने पर क्षणमात्र में अप्रकट भी हो सकते हैं।

यहां प्रसंगतः एक और तत्त्व का प्रकाश करना उचित मालूम पड़ता है। परम योगी अंशतः माया का स्पर्श किये बिना स्थूल रूप में प्रकट हो सकते हैं। वह रूप स्थूल इसीलिये कहा जाता है कि वह साधक के इन्द्रिय गोचर है, किन्तु अत्यन्त विशुद्ध होने के कारण साधक की माया-मलिन इन्द्रियां उसका ग्रहण नहीं कर सकतीं, वह अपनी कृपा से तत्काल दर्शन देने अथवा व्यवहार करने के समय साधक के इन्द्रियों का शोधन कर देते हैं। उस समय माया से युक्त शोध है। इन्द्रियों से उस मायायुक्त शुद्ध रूप को ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार के देह को भक्तिशास्त्र में अप्राकृत विशुद्ध देह कहा जाता है। क्रमविशिष्ट साधारण प्रक्रिया में सब कुछ रहता है, अर्थात् प्रकृति से उद्भूत सभी उपादान रहते हैं। किसी पुष्प का निर्माण होने पर उसमें पुष्प की सभी कारण सामग्री विद्यमान रहती हैं। पहले ही कहा गया है कि यह उपादान इच्छा-शक्ति से उत्पन्न सृष्टि में योगी की आत्मा से प्रकट होते हैं। विज्ञान-समुद्भूत सृष्टि में इसका आविर्भाव त्रिगुणात्मिका प्रकृति से होता है। पूर्व स्थान में प्रकृति भी इच्छा के प्रभाव से अद्वय आत्मस्वरूप से प्रकट होकर यथायोग्य निर्माण कार्य में उपादानस्वरूप बन जाती है। द्वितीय स्थल में यह प्रकृति द्वैत विज्ञान-वित् योगी की आत्मा से पहले से ही पृथक् रही। यही रहस्य की बात है।

प्राचीन काल में पुराणों द्वारा मानस-सृष्टि, संकल्पजन्य-सृष्टि आदि की बातें सुनी जाती हैं। इस प्रसंग में सभी तत्त्वों का विचार करना चाहिये। यह भी प्रसिद्ध है कि ईसा (Jesus), गौतम बुद्ध प्रभृति योगियों का देह भी इसी प्रकार निर्मल रहा। देवकी से उद्भूत श्रीवासुदेव का भी शरीर इसी प्रकार का था। इन सब विषयों की आलोचना यहां अप्रासंगिक है। Immaculate conception का रहस्य भी आलोच्य है। इसी प्रसंग में निर्माणकाय, निर्माणचित्त का रहस्य भी आलोच्य है। इच्छा-शक्ति की सृष्टि से परावाक् शक्ति की सृष्टि विलक्षण है। इच्छा काम का नामान्तर है। जिस देह का उद्भव काम से है, वह अशुद्ध है। जीव मात्र का प्राकृतिक

देह (Natural Body) इसी प्रकार का है। पिता तथा माता के संयोग से इस देह का उद्भव होता है। परन्तु जिस देह का आविर्भाव वाक् से अर्थात् वागीश्वरी शक्ति से होता है, वह शुद्ध देह है। ख्रीष्टीय धार्मिक भाषा में उसको Spiritual Body कहते हैं। Saint Paul और विभिन्न आचार्यों ने Spiritual Body की बात कही है। आचार्यरूपी गुरु और इष्टदेवतारूपी शक्ति इन दोनों के संयोग से जिस देह का आविर्भाव होता है, वही अप्राकृत शरीर (Spiritual Boby) है। इस देह की प्राप्ति ही द्वितीय जन्म है। इसी को लक्ष्य करके कोलकस्तव में "विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे" इत्यादि कहा गया है। सिद्धान्त शैवसम्प्रदाय का प्रसिद्ध बैन्दव देह इसी का नामान्तर है। यह मन्त्रमयी तनु है। श्रीमद्भागवत में "मन्त्रं मूर्तिममूर्तिकम्" कहकर इसी को इंगित किया है। तन्त्र साहित्य में इसका भेद भी दिखाई पड़ता है। बैन्दव देह बिन्दु अथवा महामाया से उद्भूत विशुद्ध देह है। परन्तु विशुद्ध होने पर भी यह अचित् है। अद्वैत तन्त्र में आत्मा के शाक्तदेह का भी पता चलता है। परन्तु वह अचित् नहीं पर शुद्ध चिन्मय है, एवं उसका चिदात्मा के साथ तादात्म्य रहता है। फिर भी वह देह है, क्योंकि साकार है।

एक बात यह है कि इच्छा अथवा काम से उत्पन्न देह का जैसा जन्म के अनन्तर क्रम-विकास है, उसी प्रकार वाग्जात अर्थात् वागीश्वरी के गर्भ से संभूत देह का भी क्रम-विकास है। काम-देह में विकार अथवा परिणाम होता है। जिसका अवसान मृत्यु में होता है। इसीलिए कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"। षड्भावविकार (जायते से नश्यति पर्यन्त) इसमें लगा हुआ है। यह देह काल के अधीन है। अतः कालाग्नि इसका ग्रास करती है। अग्नि एवं सोम के परस्पर संघर्ष पर ही समग्र विश्व का खेल निर्भर है। देह मात्र ही सोम की कला से उद्भूत होता है। काम-देह भी इसका अपवाद नहीं है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि चन्द्रमा की सोलह कलाओं में से पंचदश कला कालचक्र के अधीन और परिणाम की जनक हैं, परन्तु षोडशी कला जो अमृतकला नाम से प्रसिद्ध है, वह काल से ऊर्ध्व में है, एवं परिणाम-शून्य है। कालाग्नि के साथ संघर्ष के प्रभाव से पंचदशकलासंजात काम-देह क्रमशः शुष्क हो जाता है।

कालरूपी अग्नि के द्वारा देहोपादान भूत सोम कलाओं का निःशेष पान करने पर देह का पतन हो जाता है। इसी का नाम मृत्यु है। किन्तु वागीश्वरी-संजात देह पंचदश कला से उद्भूत न होने के कारण वह वस्तुतः काल के अधीन नहीं है। यह कालाग्नि के संघर्ष के प्रभाव से क्रमशः उज्ज्वल होकर अपने नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। जब काल की समाप्ति हो जाती है, तब भी सोमकला अमृत होने के कारण अटूट रहती है। इसका फल यह है कि अन्त में अमृतकलामय देह ही रह जाता है। काल का अवसान हो जाता है। यही कालातीत अमृतदेह है।

कालाधीन प्राकृत देह जैसा मातृगर्भ में विकास प्राप्त होता है, कालातीत अप्राकृत वाग्ज्ञात देह अर्थात् गुरुदत्त काय भी मातृगर्भ में विकास प्राप्त करता है। मातृगर्भ अर्थात् इष्ट देवता का गर्भ समझना चाहिये। विकास पूर्ण होने पर यह प्रकट होता है। यही योगी के लिये सिद्धि की अवस्था है। उस समय सभी लोग जिनमें चक्षु का विकास है, उसको देख सकते हैं। सिद्धदेह का आविर्भाव होने पर उपासक जैसे मां का साक्षात्कार करते हैं, उसी प्रकार माता सन्तान रूपी साधक को देखती है। यही आश्रय तथा विषय का परस्पर आभिमुख्य है। अर्थात् उस समय एक तरफ से अप्राकृत देह है आश्रय, मां होती है विषय, दूसरी तरफ से मां है आश्रय और सन्तान रूपी साधक है विषय। गुरु उस समय कहां है ? वस्तुतः पिता ही पुत्र बन जाता है। इस स्थल में गुरु को ही शिष्य रूप में प्रकट समझना चाहिये। क्रमशः माता सन्तान के अधीन हो जाती है। अन्त में सन्तान के साथ एक हो जाती है। उसके बाद सन्तान भी नहीं रहती। केवल अखण्ड स्वयंप्रकाशरूपी सत्ता रहती है। यही योगी अवस्था है। अर्थात् इस अवस्था में गुरु, इष्ट और आत्मा एक या अभिन्न है। इस योगावस्था का प्रतीक है अधोमुख त्रिकोण, मातारूप योनि और उसका बिन्दु मायाधीश ईश्वर ऊर्ध्व मुख त्रिकोण, ब्रह्म योनि और बिन्दु परमेश्वर है।

यहाँ दो त्रिकोण परस्पर मिलित हैं, एवं दो बिन्दु भी मिलित हैं। जो इस अवस्था का अधिष्ठाता है, वही योगी है।

योगभूमि प्राप्त योगी की अर्थात् जिस योगी ने परम शिवावस्था प्राप्त की है, उनकी इच्छा ही शक्ति है। शिवसूत्र में इसी को उमाकुमारी कहा गया है। स्वातंत्र्य ही इसका स्वरूप है। विश्व का सृष्टि-संहार ही इसका खेल है। इच्छा दो प्रकार की है। साधारण जीव की स्थूल इच्छा है। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह शक्ति नहीं है। योगी की अप्रतिहत इच्छा ही शक्तिरूप है। भगवदिच्छा, योगीच्छा एवं पराशक्ति अभिन्न है। बाह्य तथा आन्तर दृश्य मात्र ही योगी का शरीर है। योगी के लिये दृश्य मात्र ही अहं इदंरूप से स्वांग रूप से प्रतीत होता है। अपने स्वरूप से पृथक् नहीं होता। इसी प्रकार योगी को अपना शरीर भी दृश्यरूपेण प्रतीत होता है। किन्तु पशु को अपना शरीर द्रष्टा रूप में प्रतीत होता है। अर्थात् योगी का अपने शरीर में अहं रूप नहीं रहता है। अत एव यह समझना चाहिये कि परा संवित् से इच्छा-शक्ति के प्रभाव से स्थूल प्रमेय-पर्यन्त समग्र विश्व का प्रसरण होता है।

यह जो इच्छाशक्ति की चर्चा की जा रही है, यह सत्य संकल्प पुरुष के सिद्ध संकल्प से भिन्न है। केवल इतना ही नहीं, संप्रज्ञात-समाधि से भी यह श्रेष्ठ अवस्था है। पातञ्जल सूत्र के व्यास भाष्य से यह पता चलता है कि इन्द्रलोक अथवा स्वर्ग में त्रिदशादि जितने देवता हैं, वे सब संकल्प सिद्ध हैं। यह लोग कामभोगी हैं और

अणिमादि सिद्धियों से सम्पन्न हैं। यह सत्य संकल्प हैं, किन्तु इनको ध्यान में भी अधिकार नहीं, समाधि तो दूर की रही। इसके बाद महर्लोक, जनलोक और तपोलोक में इनसे भी उच्चकोटि के देवता हैं। सर्वत्र ध्यान का अधिकार विद्यमान है। परन्तु समाधि-सिद्धि कहीं नहीं है। सत्यलोक में विभिन्न प्रकार के सिद्ध समाधि में रहते हैं। ध्यान से तत्त्वों का जय होता है। समाधि में पूर्ण शक्ति का विकास होता है, परन्तु पूर्ववर्णित इच्छा लोक-लोकान्तर-स्थित देव अथवा सिद्धों को नहीं रहती। पातञ्जल सम्प्रदाय सम्मत योगियों की स्थूल दृष्टि से चार श्रेणियां हैं—(१) प्रथम श्रेणी में जो योगी हैं, उनको प्रज्ञाज्योति कहा जाता है। इसके अनन्तर मधु अवस्था का उदय होता है। जिसमें परीक्षा होती है। जिस योगी में संग अथवा आसक्ति और संग अर्थात् गर्व नियन्त्रित हुए हैं, उनकी प्रज्ञाज्योति निर्मल हो जाती है। साथ ही साथ परीक्षा का अवसान हो जाता है। उस समय उस प्रज्ञारवि रूपी ज्योति से पंचभूत और इन्द्रिय दोनों को आयत्त किया जाता है। पंचभूत के नियन्त्रण से अष्ट-सिद्धि एवं काम-सम्पत् का उदय होता है। इन्द्रियों के नियंत्रण से मनोजवित्व आदि तथा मधुप्रतीक आदि सिद्धियों का उदय होता है। इसके बाद सिद्धियों का संहरण होता है और आत्मा शक्तियों के उपसंहार के अनन्तर अतिक्रान्तभावनीय स्थिति में आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के सन्निहित होते हैं, मानों शुक्ल पक्ष के अनन्तर कृष्ण पक्ष का भी अवसान हो गया। पातञ्जल साधन-क्रम यहीं समाप्त हो जाता है। परन्तु आत्मस्वरूप में आत्मा की अन्तरंग शक्ति विद्यमान रहती है। यह विभूतियों के अनुरूप हेय-शक्ति नहीं है। इच्छा-शक्ति इसी अवस्था का महान् स्फुरण है।

इस प्रसंग में एक व्यावहारिक प्रश्न का समाधान किया जा रहा है। साधारणतः किसी के मन में शंका होती है कि योगी अपने लौकिक व्यवहार में इच्छाशक्ति अथवा विज्ञान-शक्ति से बनाई वस्तु का व्यवहार कर सकते हैं या नहीं ? इसका एकमात्र उत्तर है कि योगी इस प्रकार अलौकिक शक्ति से निर्मित वस्तु स्वयं व्यवहार नहीं करते, परन्तु दूसरे को व्यवहार के लिये दे सकते हैं। प्राचीनकाल में यह नियम प्रचलित रहा। मिलिन्दपन्हो नामक पालि ग्रन्थ में कहा गया है कि योगी शक्तिशाली होने पर लौकिक प्रयोजन के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करते। वहां लिखा गया है कि—समं निम्मितं पञ्चमं न पठिसेवन्ति। इसका तात्पर्य है स्वयं-निर्मित वस्तु को अपने उपयोग में नहीं लाते। इसमें एक कारण बताया है कि "महतो जनकायस्य अनुकम्पाय" और दूसरा कारण यह है कि इसमें लोकापवाद होने की आशंका है। वर्तमान योगी सम्प्रदाय में भी यह नियम चालू है॥

अमरत्व साधना में तान्त्रिक और कौलिक दृष्टि

म० म० पं० गोपीनाथ जी कविराज, अध्यक्ष—योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

तन्त्रशास्त्र की आलोचना करने पर यह प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में अमरत्व साधना के लिए दो प्रसिद्ध प्रक्रियाओं का उपयोग होता था। इनमें एक तान्त्रिक प्रक्रिया और दूसरी कौल प्रक्रिया है। यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि कौल प्रक्रिया की पृथक् रूपेण गणना की जा रही है। 'अमरत्व' शब्द से इस प्रसंग में दिव्य-देह की प्राप्ति समझना चाहिए। हमलोग जिस देह के साथ सर्वदा परिचित रहते हैं, वह जड़ देह है, जो पंच भूतात्मक पिण्डरूप है। यह देह काल के अधीन है, एवं परिणामशील है। जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते एवं नश्यति यह छः प्रकार के भावविकार इसमें अनुस्यूत रहते हैं। अर्थात् जन्म के बाद ही इस देह में क्रमिक परिणाम होता रहता है और अन्त में इसका नाश होता है। इस देह की पृष्ठभूमि में लिंग-शरीर की सत्ता मानी जाती है और लिंग के अन्तराल में कारणदेह भी वेदान्तशास्त्र में माना गया है। यह सब देह प्रकृति से या माया से उद्भूत नश्वर देह हैं। यह सभी त्रिगुणात्मक हैं। इससे अतिरिक्त इनकी पृष्ठभूमि में बैन्दव देह अथवा महामायासंभूत देह विद्यमान है। जिसका विशेष विवरण सिद्धान्तशैव सम्प्रदाय के साहित्य में देखने में आता है। यह आगम साहित्य का ही एक विभाग है। वैष्णवों की दृष्टि से यह देह अप्राकृत विशुद्ध, सत्त्वमय देह है, जिसका वर्णन पांचरात्र आगम और तन्मूलक वैष्णव प्रस्थानों में मिलता है। इस देह को 'अप्राकृत' इसीलिए कहा जाता है कि इसमें प्राकृत गुणविशेष—रजोगुण तथा तमोगुण नहीं है, एकमात्र सत्त्वगुण है, परन्तु वह भी प्राकृत नहीं है। इसीलिए उसके साथ रज तथा तम का स्पर्श नहीं रहता। इसी कारण से इस देह को अप्राकृत कहा जाता है। प्राकृत देह त्रिगुणात्मक होता है। यह देह केवल सत्त्वगुण से रचित होने के कारण निर्मल और विशुद्ध माना जाता है। विशुद्ध सत्त्व सांख्य शास्त्र में नहीं है, परन्तु भगवान् पतंजलि ने प्रकृष्ट सत्त्व नाम से इसको ईश्वर की नित्य शुद्ध उपाधि के रूप में ग्रहण किया है। पातंजल योगियों का कथन है कि यह विशुद्ध सत्त्व शुद्ध होने पर भी अमित है, इसमें सन्देह नहीं है। शाक्त योगियों के अनुसार यह भी चिन्मय देह नहीं है। योगियों की दृष्टि से शाक्त देह ही चिन्मय देह है। वही यथार्थ अमर देह है, जिसको प्राप्त करने पर कालकृत परिणामों के ऊर्ध्व में स्थितिलाभ होता है। वही वास्तव में दिव्य देह है और नित्य है। उसकी प्राप्ति से ही अमरत्व की सिद्धि होती है। शाक्त योगियों का कथन है कि सूक्ष्म ध्यान से ही इस मार्ग में सत्ता का उन्मेष होता है।

परन्तु इसकी प्रक्रिया तान्त्रिक तथा कौलिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न है। उद्देश्य एक होने पर भी प्रक्रिया अंश में दोनों सम्प्रदायों में भेद है। सूक्ष्म ध्यान की एक प्रक्रिया तान्त्रिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है और इसी प्रक्रिया का दूसरा स्वरूप कौलिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।

तान्त्रिक पद्धति

यह पद्धति स्थूल प्रक्रिया विशेष है। इस प्रक्रिया में सबसे पहले प्राणशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। जन्मस्थान या कन्द में स्पन्द-शक्ति से आविष्ट प्राण का सहारा लेकर गुदस्थान के संकोच-विकास के द्वारा सूक्ष्म प्राणशक्ति को जगाना पड़ता है। इस प्रकार उसको जगाना चाहिये कि मानो मन उस समय में इस व्यापार को निविष्ट होकर देख सके। मानसिक दृष्टि से इस व्यापार को देखना पड़ता है, जिसके प्रभाव से आवेश उत्पन्न होता है। इतनी क्रिया सम्पन्न होने के बाद कालाग्नि शक्ति का अवलम्बन करना आवश्यक है। इसके लिए दोनों पैर के अंगुष्ठरूप आधार में जाना पड़ता है। इसके अनन्तर परवर्ती कार्य का सम्पादन होता है। यह कार्य और कुछ नहीं है, किन्तु शक्तिस्पन्दरूप वीर्य को कन्दभूमि से प्राप्त करके पूर्वोक्त स्थान में क्षेपण करना चाहिये। यह समग्र क्रिया भावना द्वारा ही सम्पूर्ण करना उचित है। उस कार्य को अर्थात् शक्तिस्पन्द का अवलम्बन करके प्राणस्पन्दरूप क्रियाशक्ति को उस वीर्य से अभिव्यक्त करने के बाद तीव्र रूप से उसको उत्तेजित करना पड़ता है। उसके अनन्तर देह के केन्द्र स्थल में अर्थात् नाभि में उसकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति का व्यापार इच्छा द्वारा सम्पन्न करना पड़ता है। अर्थात् संकोच क्रम से उत्थित ऊर्ध्वारोहण प्रयत्न द्वारा इसको पूर्ण करना पड़ता है। इतना हो जाने पर विज्ञान से अर्थात् भावना के द्वारा स्थिति को प्रकट करना आवश्यक है। इतना हो जाने पर देहस्थ ग्रन्थियों में भेद हो जाता है। गुल्फ, जानु, पेट, कन्द, नाभि इन सब ग्रन्थियों का भेद करना आवश्यक होता है। इस भेदक्रिया का नामान्तर वेध है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ऊर्ध्व स्थित ग्रन्थियों पर आक्रमण करना पड़ता है। पहले मूल स्पन्द को आश्रय कर के चलना चाहिये। गुदस्थान का निरन्तर क्रम से संकोच और विकास करते हुए उस स्थान का निरोध करने पर मूल स्पन्द का आश्रय मिलता है। तान्त्रिक लोग जिस दिव्यकरण की चर्चा करते हैं, यह उसी का उपलक्षण है। इसके बाद इडा और पिंगला दो स्रोतों का त्याग करते हुए इच्छाशक्ति के अधिष्ठान के प्रभाव से मध्यप्राणरूपा शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। यह शक्ति मध्य मार्ग में निरन्तर चलती रहती है। अन्त में सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय करना आवश्यक है। इतना हो जाने पर इन्द्रिय-गोचर विषय-ग्राम से विरति का अभ्यास करना आवश्यक है। इस समय सब इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के अवस्थान करना पड़ता है। इसके अनन्तर विज्ञान से आगे का कार्य करने का अवसर है। इस विज्ञान में

माया का स्पर्श नहीं है। वस्तुतः प्रकाशानन्दात्मक ज्ञान ही विज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा अख्याति या अज्ञान का निर्मूलन करना पड़ता है। इस अवस्था में प्राणादि का प्राधान्य रूप अख्याति नहीं रहती है। इस प्रक्रिया का उद्देश्य ब्रह्मादि कारणवर्ग का परिहार करना है। परन्तु यह व्यापार क्रम से होता है। यह सब कारण संवित्-स्वभाव है और सृष्टि, संरक्षण, संहारादि जागतिक व्यापारों से सम्पृक्त है। ब्रह्मादि का अधिष्ठान हृदय, कण्ठ प्रभृति स्थानों में माना जाता है। यह अधिकारिमण्डल है। परमेश्वर के पंच कृत्यों में एक-एक कृत्य को सम्पादन करने के लिए एक-एक पुरुष नियुक्त रहते हैं। इन अधिकारियों को क्रमशः त्याग कर मायादि ग्रन्थियों का भेद करना पड़ता है। इसी के साथ विभिन्न आकाशों का परित्याग करना पड़ता है। योग-मार्ग में पाँच आकाश प्रसिद्ध हैं। छः कारणों से एवं पाँचो व्योमों से ऊपर उठकर कुण्डल शक्ति को ग्रहण करना पड़ता है। इस कुण्डल शक्ति का पारिभाषिक नाम समना शक्ति है। यह कुण्डल शक्ति शून्यातिशून्य अर्थात् शिव तत्त्व से पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समग्र विश्व को गर्भ में धारण करते हुए कुण्डल के रूप में अवस्थान करती है। यह बहुत उच्च अवस्था है। परन्तु इससे भी ऊपर उठना आवश्यक है। इस ऊर्ध्व गति में एक मात्र विज्ञान ही सहायक है। इतना हो जानेपर उन्मना अवस्था की प्राप्ति होती है, जिस अवस्था में अपना स्वरूप परमतत्त्वरूपेण प्रकाशित होने लगता है।

इस प्रक्रिया का सारांश यह है कि पहले प्राण-स्पन्द अथवा क्रियाशक्ति को जगाकर नाभि में प्रवेश करना पड़ता है। जिसमें नाना प्रकार की प्रक्रिया है। इसके बाद इड़ा और पिंगला नाड़ियों को छोड़ कर मध्य मार्ग में चलने वाली मुख्य प्राण-शक्ति अर्थात् ब्रह्म-शक्ति द्वारा सुषुम्ना नाड़ी का आश्रय करना पड़ता है। इसके प्रभाव से विषयों का उपरम हो जाता है और इन्द्रियवर्ग अन्तर्मुख हो जाते हैं। इन्द्रियों के अन्तर्मुख होने पर कारण वर्गों का त्याग हो जाता है और मायादि द्वादश ग्रन्थियों का भेद और पंच व्योम का अतिक्रम हो जाता है। इतना सिद्ध होने पर षट्कारणों के ऊपर जो समना अथवा कुण्डल-शक्ति है, उसी की प्राप्ति होती है। पहले ही कह चुके हैं कि इसी शक्ति में समग्र विश्व अन्तर्लीन अवस्था में रहता है। इतनी प्रक्रिया को समाप्त करने पर विज्ञान शक्ति द्वारा ऊर्ध्व में उठ कर उन्मना में प्रवेश होता है। इसी का नामान्तर है—परतत्त्वप्रवेश।

अब तक जो कुछ कहा गया, यह तान्त्रिक प्रक्रिया का विवरण है। परन्तु कौलिक प्रक्रिया इससे विलक्षण है। कौलिक प्रक्रिया शाक्तानन्द मार्ग में संचार का उपलक्षण है। दोनों प्रक्रियाओं में ही सूक्ष्म ध्यान की आवश्यकता होती है। कुल प्रक्रिया में परा चित्शक्ति को मध्यम प्राण में वहन करना पड़ता है। यह मध्यम प्राण ही सुषुम्ना स्थित प्राण-ब्रह्म है, जो आगम शास्त्र में उदान नाम से प्रसिद्ध है।

जिस समय प्राण तथा अपान इन दोनों वृत्तियों की निवृत्ति हो जाती है, तब उन्मना रूप से चिन्तन आवश्यक होता है। इस चिन्तन की प्रक्रिया प्राचीन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसमें सब से पहले 'अहं-भाव' को लेकर देहादिप्रमातृभाव को शान्त करना पड़ता है। पूर्णाहन्ता के आवेश से ही यह कार्य सिद्ध हो सकता है, इसके लिए दूसरा उपाय नहीं है। देहादिप्रमातृभाव निवृत्त हो जाने पर तीव्रवीर्यसम्पन्न मूल-मन्त्र की सामान्य स्पन्द के रूप में भावना करनी पड़ती है। यह सामान्य स्पन्द परा शक्ति के साथ सामरस्यात्मक है और इसी लिये यह स्पन्दनात्मक है। मूल मन्त्र द्वारा अपने स्पन्द से प्राणादि को निवृत्त करने पर ही पूर्वोक्त स्पन्दभाव की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार से मन्त्र-वीर्य की भावना समाप्त करके अपने अभिमान की आनन्द-चक्र में स्थापना करनी पड़ती है। इस आनन्द-चक्र का नामान्तर ही मूलाधार है। यह जो अभिमान की बात कही गई है, यह अपना असामान्य चमत्कार रूप वीर्य है। इनके लिये पहले ही परिमित अथवा परिच्छिन्न अभिमान को, जो कि प्राणादि देह को अवलम्बन करके खेलता है, शान्त करना पड़ता है। अब तक जो कुछ कहा गया है, यह है प्रारम्भिक क्रिया। इसके बाद सूक्ष्म योग का अवलम्बन करना पड़ता है। यह है वेध-क्रिया, जिसमें नादरूपी सूची की आवश्यकता होती है। यह सूची वस्तुतः मन्त्राधिष्ठाता के प्राण गत स्फुरण अथवा उन्मेष का नामान्तर है। इस वेधक्रिया में क्रमशः ऊर्ध्व मार्ग में आरोहण चलता रहता है। यह सूक्ष्म-योग का ही रूप है। इस प्रकार के सूक्ष्मयोग के द्वारा उन्मेष प्राप्त स्फुरत्ता उत्तेजित हो जाती है। मध्य मार्ग में आरूढ़ होकर षोडश आधार एवं द्वादश ग्रन्थियों का भेदन करना पड़ता है। इसकी प्रक्रिया कुलशास्त्र में विभिन्न स्थानों में उपदिष्ट है। इतना भेद होने पर भी वेध-क्रिया समाप्त नहीं होती, क्योंकि परम शान्त जो द्वादशान्त स्थान है, वह बाकी रह जाता है। द्वादशान्त को विद्ध करने के लिए पहले उसमें प्रविष्ट हो कर महामायापर्यन्त सब प्रकार के बन्धन को त्याग करना चाहिये और उसी स्थिर पद में अवस्थित होकर व्यापक नित्योदित पराशक्ति से सामरस्य भावापन्न जो परम शिव है, उनके साथ तादात्म्य लाभ करना चाहिये। इसके अनन्तर द्वादशान्त से हृदय के बीच में आपूरण करते हुए आकुंचन क्रिया करना आवश्यक है। इसके लिये भीतर में प्रसृत होने वाले मध्यम मार्ग का ही आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। अब तक हृदय में प्रवेश का विवरण हुआ। इसके अनन्तर हृदय से उच्छलित अमृत को विभिन्न दिशाओं में फैला देना चाहिये। यह अमृत तब अनन्त नाड़ी प्रवाहों में प्रसरण करता है। इससे देह को पूर्ण कर लेना चाहिये।

समग्र देह जब अमृत से पूर्ण हो जाता है और अमृत में जब बहिर्मुख वेग तीव्र हो जाता है, तब रोमकूप का आश्रय करके उस अमृत को विषय की तरफ रेचन प्रक्रिया द्वारा फैलाना चाहिये। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि किसी दिशा में अमृत संचार में विच्छेद न हो। इसी का नाम है—सूक्ष्म शाक्तानन्द ध्यान।

इस ध्यान की स्थिति में यह भावना करनी चाहिये कि समग्र विश्व इस आनन्द से आपूरित हो गया है। इस अवस्था तक स्थिति हो जाने पर योगी जरा तथा मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं। अमरत्व साधना की यही कौलिक प्रणाली है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीन काल में किसी-किसी प्रस्थान में तान्त्रिक तथा कौल प्रक्रिया का भेद माना जाता था। इस लेख में दोनों सम्प्रदायों की प्रक्रिया में जो भेद दिखाई पड़ता है, यह साम्प्रदायिक भेद का निदर्शन है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज ने प्रसंगतः इस भेद का परिचय दिया है, क्योंकि उन्होंने कहा है कि आत्मा के स्वरूप के विषय में आगम का प्रामाण्य मानने वाले सम्प्रदायों में किसी के मत से यह आत्मा विश्वातीत माना जाता है, इसको तान्त्रिक मत कहा गया है। मतान्तर में आत्मा को विश्वात्मक कहा गया है, यही कौलिक मत है। तीसरे मत में आत्मा को विश्वात्मक एवं विश्वातीत दोनों माना है, यही त्रिक मत है।

कालीविद्या कालीशक्तिश्च

श्रीरघुनाथपाण्डेयः, वरिष्ठानुसन्धाता, वा० सं० वि० वि० वाराणसी।

दश महाविद्याः

मन्त्रशास्त्रे पुंस्त्रीनपुंसकभेदेन त्रिविधं देवतास्वरूपं लभ्यते। मातृकावर्णेभ्य एव सर्वविधमन्त्राणामुत्पत्तिः। तदुक्तं शारदातिलके—

मातृकावर्णभेदेभ्यः सर्वे मन्त्राः प्रजज्ञिरे।
मन्त्रविद्याविभागेन त्रिविधा मन्त्रजातयः॥
पुंस्त्रीनपुंसकात्मानो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्याः स्त्रीदेवताः स्मृताः॥ (२।५७-५८)

विद्याश्चासंख्येयाः, तथापि तासु दशमहाविद्यानां प्राधान्यम्, तासामपि कालीताराविद्ययोरत्यन्तं प्राशस्त्यं तत्र तत्र तन्त्रेषु वर्ण्यते। मुण्डमालातन्त्रे प्रथमपटले तासां नामानि—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
वगला सिद्धिविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धिविद्याः प्रकीर्तिताः॥ इति।

[1]तोडलचामुण्डातन्त्रयोरपि नाम्नां साम्यमेव। शक्तिसंगमतन्त्रे तु पूर्वोक्तषोडशीकमलयोः स्थाने रमासुन्दर्योः संनिवेशः। मुण्डमालायां सिद्धिविद्यास्थाने मातङ्ग्या उल्लेखः, शक्तिसंगमे तु भैरव्याः सिद्धिविद्यात्वेन ग्रहणमिति विशेषः।

भैरवाः

यतः स्त्रीदेवतात्मकत्वं विद्यानामतस्तासामधिष्ठातारः शिवा भैरवव्यपदेशभाजस्तत्तन्नाम्ना निर्दिष्टास्तन्त्रेषु। तद्यथा तोडलतन्त्रे—

(१) महाकालः, (२) अक्षोभ्यः, (३) शिवः (त्र्यम्बकः पञ्चमुखश्च), (४) त्र्यम्बकः, (५) दक्षिणामूर्तिः (पञ्चमुखः), (६) कवन्धः (शिवः), (७) ......(८) एकवक्त्रः (महारुद्रः), (९) मतङ्गशिवः (दक्षिणामूर्तिः), (१०) विष्णुश्च (सदाशिवः)।

---

१. म० म० प० गो० ना० कविराजमहोदयानां लेखात्—सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ७।

शक्तिसंगमानुसारं २, ४, ५, ६, ७, ८, संख्यकभैरवाणां नामानि ललितेश्वरः, (त्रिपुरभैरवः), विकरालः (क्रोधभैरवः), महादेवः, कालभैरवः (घोरः), वटुकः, मृत्युञ्जय इति। तत्तद्भैरवनामभेददर्शनेन पर्यायसंभावनयैव समाधिर्न तु भैरवान्तरकल्पनयेति न कोऽपि विरोधः। धूमावत्याः पतिहीनत्वान्न कोऽपि भैरवः। शक्तिसंगमे तु तस्या अपि कालभैरवो भैरवत्वेन स्वीकृतः। प्रथमभैरवो महाकालस्तु दक्षिणकालिकया सम्बद्धस्तत्र।

आम्नायाः

उपासकानां रुचिभेदाद् मन्त्रशास्त्रे आम्नायाः षट् स्वीक्रियन्ते, पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरोर्ध्वानुत्तरभेदात्। सर्वा अप्येता विद्या आम्नायक्रमे विभक्ताः। तत्र कालीमहाकाल्योस्तु उत्तराम्नाये समावेशो वाडवानलतन्त्रानुसारात्।

दशमहाविद्यासु प्रथमा काली

काल्या भैरवो महाकाल इति पूर्वमेवोक्तम्। महाकालस्याभिन्ना शक्तिः काली दशसु प्राथम्येन परिगण्यते।[1] उत्तराम्नाये—काली, तारा (कैश्चिद् भेदैः सह), भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, मातङ्गी, गुह्यकाली, धूम्रा, कामकलाकाली, महाकाली, महाश्मशानकाली, कपालिनी, कालसंहारिणी, छिन्ना, महाभीमा, सरस्वती, महारात्रिः, तारायास्त्रयो भेदाः—योगेशी, सिद्धिलक्ष्मी, सिद्धिभैरवीत्येता विद्या वर्गीकृताः।

कालीप्रादुर्भावः

प्राणतोषिणीधृतस्वतन्त्रतन्त्रे—अवन्तिपुरे फाल्गुनकृष्णैकादश्यां महारात्रितिथौ काल्या आविर्भावः। सती (दक्षपुत्री) पार्वती (मेनकातनया) इमे अपि तस्या एव नामनी। कालीं समुपास्यैव विश्वामित्रो ब्राह्मण्यं प्रपेदे। मुण्डमालातन्त्रे कालीकृष्णयोः कालीषोडश्योश्चैक्यमुपवर्णितम्। प्राणतोषिण्यां १२४ तमे पृष्ठे काल्याः सुन्दरीरूपतया षोडशीरूपतया वा विवृतिमुद्दिश्यैका कथा वर्तते। तद्यथा—इन्द्रः कैलासवासिनं शिवं काश्चन अप्सरसः प्रेषितवान्। शिवस्ताः काल्याः सविधे कालीपुरं संप्रेष्य स्वयमप्यनुजगाम। कृष्णवर्णां तामभिलक्ष्य शिवः कालीति तामाचचक्षे। एतच्छ्रुत्वाऽवमता सा सद्य एव गौरवर्णा समजायत। अत्रान्तरे देवर्षिर्नारदो दर्शनार्थमागतः शिवश्चोत्तरमेरुं महाकालीं समुपसृतः। नारदः परिहासप्रसङ्गेन शिवस्योज्जिघृक्षां तस्यै संसूचितवान्। तच्छ्रुत्वा साऽत्यन्तं सुन्दरं रूपं गृहीत्वा तत्सम्मुखमुपतस्थे। कापि मनोज्ञा आकृतिर्भवद्धृदि प्रतिबिम्बितेति सा शिवमुवाच। शक्तिं ध्यायतः शिवस्याविश्रब्धतां कलयन्ती सा भृशं चुकोप। शिवस्तामनुसन्धातुमुन्मुखीकृत्य तस्या ज्ञाननेत्रमुन्मीलितवान्। मम प्रतिकृतिरेव शिवहृदयस्थेति ज्ञात्वा साऽत्यर्थमाश्चर्यहर्षाभ्यां चमत्कृता।

---

1. म० म० प० गो० ना० कविराजमहोदयानां लेखात्—सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ७।

शिवस्तां शक्तिसुन्दरीति सम्बोधयन् पुर आविर्भावयामास। सुन्दरी, श्रीः, पञ्चमी, त्रिपुरसुन्दरी, ललिता, सर्वेऽमी पर्याया एव।

तस्याः पूर्णयौवनोद्भेदात् शिवस्तां षोडशीत्यपि ख्यापयामास। अस्या देव्या भेदा नामानि च पुरश्चर्यार्णवे वर्णितानि। ततो नव नामानि निर्दिश्यन्ते—(१) दक्षिणा, (२) भद्रा, (३) श्मशाना, (४) काल-(काली), (५) गुह्य-(काली), (६) कामकला, (७) घना, (८) सिद्धि-(काली), (९) चण्डी इति।

जयद्रथयामले—डम्बरकाली, गहनेश्वरी, एकतारा, चण्डशाबरी, वज्रवती, रक्षाकाली, इन्दीवरीकाली, धनदा, रमण्या, ईशानकाली, मन्त्रमाता—इत्येताः काल्यो निर्दिष्टाः। सम्मोहनतन्त्रे दशभेदाः कथिताः, किन्तु सप्तैव प्राप्यन्ते—(१) स्पर्शमणिः, (२) चिन्तामणिः, (३) सिद्धकाली, (४) विद्याराज्ञी, (५) कामकला, (६) हंसकाली, (७) गुह्यकाली इति। तत्र दक्षिणा भद्रकाली च दक्षिणाम्नाये परिगणिते। गुह्यकाली, कामकला, महाकाली, महाश्मशानकालीति चतस्रस्तूत्तराम्नायविद्यात्वेन निर्दिष्टाः।

काल्या उपासकाः

अस्या उपासकाः कुमारीतन्त्रे—ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः, इन्द्रसूर्यवरुणकुबेराग्निप्रभृतयो देवाः, दुर्वासोवशिष्ठदत्तात्रेयबृहस्पतिविश्वामित्रप्रभृतय ऋषिप्रवराश्च। गुह्यकाली सामान्यतया नेपाले पूज्यते, अस्या उपासका ब्रह्म-वशिष्ठ-राम-कुबेर-यम-भरत-रावण-बलि-इन्द्र-प्रभृतयः। हारीतच्यवनयोरपि सप्तदशाक्षरी गुह्यकाली उपास्या आसीत्। हारीतः खलु गुह्यकालीमन्त्रं कीलितवान्। अत उत्कीलनं विना सा सामान्यतया न सर्वेभ्यः सिद्धिप्रदा सिद्धा वा भवति। च्यवनोपासिता तु लोकेऽद्यापि लब्धप्रसरा। साधकभेदेन गुह्यकाल्या मुखाकृतिर्विभिन्ना। भरतोपासिता सा दशमुखी। गुह्यकाली एवैतस्या विद्याया मूला प्रकृतिः स्वीकृता। अस्याः सप्तभेदाः। दक्षिणायास्तु पञ्चभेदाः सन्ति। कामकलाकाल्या उपासकानां नामानि यथा महाकालसंहितायाम्—इन्द्र-वरुण-कुबेर-ब्रह्म-महाकाल-राम-रावण-यम-विष्णु-प्रभृतयो देवा ऋषयश्च। अष्टादशाक्षरी कामकला विद्या सर्वोत्कृष्टा मन्यते। कालीतन्त्रे सिद्धकाली-भुवनेश्वर्यौ दक्षिणकालिकाया एव भेदौ।

दशमहाविद्योत्पत्तिः

विद्यासु कादि-हादि-कहादि-सादि-रूपभेदास्तन्त्रेषु श्रूयन्ते। शक्तिसंगमतन्त्रे कालीमतस्य कादिविद्यायां परिगणनम्। एवमेव हादिमतं श्रीत्रिपुरायाः, कहादिमतं श्रीतारिण्यास्तारापरपर्यायायाः। कालीविद्योपासनायां पूर्वं बटुकभैरवस्य पूजा

तन्मन्त्रजपश्चावश्यकौ, काम्यपूजायां बटुकभैरवपूजां विना सिद्धिविरहस्य तत्र स्पष्टमुल्लेखात्। तद्यथा—

बटुकस्य च संयोगात् सिद्ध्यत्येव न चान्यथा।
श्रीतारोपासको यस्तु कालिकोपासकस्तु यः॥
इमां विद्यां साधयित्वा सिद्धिमाप्नोति नान्यथा।

(शक्तिसंगमे कालीखण्डे ८। २३-२४)

शक्तिसंगमस्योनविंशे पटले विद्योत्पत्तिरित्थं वर्णिता—कृतयुगे ताराक्षकमलाक्षविद्युन्मालीति नामानस्त्रयो भ्रातरो दितिगर्भोद्भवा अभूवन्। ते हि दिव्यं दशसहस्रवर्षं ब्रह्मणः प्रीतये तपोऽतप्यन्त। प्रीतो ब्रह्मा तैरभ्यर्थिते वरचतुष्टये वरद्वयं ददौ। सर्वप्राणिभ्योऽवध्यत्वरूपः प्रथमः, लक्षत्रययोजनान्तरस्थितं पुरत्रयं देवैरप्यलङ्घ्यरूपं द्वितीयः। वरदानानन्तरं ब्रह्मा तानुवाच—अयि भो दैत्यराजाः! जगत्त्रये कस्यापि सर्वथाऽवध्यत्वं नास्तीति भवन्तः केनापि प्रकारेण घटमानं स्वस्वमृत्युं स्वीकुर्वन्तु। क्षणं विचिन्त्य तैः प्रोक्तं त्रयाणामस्माकं त्रिपुरमेकेन शरेण क्षणाद् यो धक्ष्यति सोऽस्मान् हनिष्यतीति। तथेत्युक्त्वा धाता देवैस्तोष्टूयमानस्तैरावृतः स्वलोकं प्रतस्थे। तेषां पुराणि नभःसीमनि सौवर्ण-राजत-आयसरूपाणि क्रमेणावातिष्ठन्त। पुराणामुच्छ्रायायामौ दशसहस्रयोजनमितौ। प्रतिपुरं युद्धदुर्मदानां दानवानां संख्या त्रिंशन्निखर्वषट्वृन्दनवत्यर्बुदकोटयः। तेषां तादृशीमृद्धिं दृष्ट्वा सेन्द्राः सर्वे देवा भीतभीताः स्वस्वावासान् त्यक्त्वा पलायाञ्चक्रिरे। ब्रह्माणं पुरोधाय सर्वे देवा रुद्रमुपसंगम्य त्रिपुरासुरगणस्य देवान् प्रत्युपद्रवानब्रुवन्। देवाङ्गनापहरणम्, यज्ञयागादिनिरोधः, मह्या निर्मनुष्यत्वम्, अमरावत्या निर्देवत्वम्, नदीनां सलिलराहित्यम्, सागराणां रत्नाभाववत्त्वम्, वृक्षकोटरेषु पर्वतकन्दरासु स्वात्मानं प्रच्छाद्य देवमनुष्यादीनां कालयापनादिकमिति निखिलां कष्टपरम्परां देवाः शिवं निवेदयामासुः। एतच्छ्रुत्वा वृषभध्वजस्तैर्योद्धुं रथनिर्माणाय देवानादिशत्। ब्रह्मा स्मितपूर्वमभिभाषमाणः स्वस्य देवानां चासामर्थ्यं रथनिर्माणे तद्वहने च प्रकटयामास। भगवान् शिवो रथनिर्माणोपकरणान्यधिकृत्य वक्तुमुपक्रान्तः—तस्मिन् रथे चत्वारो वेदा एव वाजिनः स्युः। उपाकर्मानुष्ठानसंचितेन तपसा ताराक्षस्य बलक्षयः, वर्षं यावत्कृतया शान्त्या निर्मितेन पवित्रेण कमलाक्षतपःक्षयः, पूर्वोक्तभ्रातृद्वयस्य बले क्षीणे विद्युन्मालिनोऽपि बलहानिः सम्पत्स्यते। वेदा वाजिनः, सम्पूर्णा मेदिन्येव रथः, सूर्याचन्द्रमसोश्चक्रस्थितिः, कूवरगन्धमादनविन्ध्यगिरयो नाभिः, कैलासोऽक्षः, मेरुर्ध्वजदण्डः, विधिः सारथिः, प्रणवः प्रतोदः, पुराणानि रश्मयः, मन्दराचलो धनुः, वासुकिः शिञ्जिनी, विष्णुः शरः, बाह्वोर्वायुवेगः, वासुकेः फणासु यममृत्युकालानां निवासः, शरपृष्ठे वासवः, पुङ्खस्थाने कुबेरवरुणौ, मस्तके सर्वदेवताः, नासत्यौ वटिनीसंस्थौ, यज्ञाः पदातयः, अष्टाङ्गे दशविद्याः, शत-

स्थाने शताङ्गकम्, षट्त्रिंशदङ्गुलो धनुर्वंशो मन्त्रबन्धनसंयुतः, आदित्यरूपा मन्वङ्गुल्यः, मैनाकसम्बन्धिनः शराः, पिनाकस्य लक्षगुणगुणितश्चापः। इत्थमन्यत्र यत्किञ्चिदपेक्षितं तत्सर्वं स्वेच्छया शिवेन प्रगुणीकृतम्। षोढान्यासकवचास्त्रादीनां सत्त्वेऽपि योग्यरक्षाया अभावमभिलक्ष्य भगवाञ्छिवो भृशं वैयाकुल्यमवाप, ध्यानावस्थितः सन् विश्वतारिणीं शक्तिं स्तुत्यादिभिः संतोष्य दश दिक्षु रक्षायै सम्प्रार्थयामास। सा विश्वतारिणी शक्तिरात्मानं दशविद्यामयीं विधाय त्रैलोक्यविजयाभिधां रक्षां स्वीचकार। स्वर्गे स्तम्भनाख्याभिधा, भुवि त्रैलोक्यविजया, पाताले आकर्षणाख्या इति त्रैधं रूपमास्थाय कालीताराछिन्नमस्ताख्यविद्यास्त्रिलोकीरक्षासु तया न्ययुज्यन्त। दशविद्यारूपा रक्षाः संप्राप्य तुष्टः शिवस्त्रिपुरविजयाय रथारोहणपूर्वकं प्रतस्थे। पूर्वोक्तदैत्यानां पुरत्रयमेकेन शरेणाभिनत्। क्षणेन भस्मसाद्भूता दैत्या यमातिथयोऽभवन्। ततः प्रभृत्येव विद्यानां रक्षारूपता जगति विश्रुता। रहस्यरूपोऽयं रथः। आणवमायीयकार्ममलास्त्रयो दैत्याः, परावाग्रूपा संविदेव मातृकामयो रथः, इच्छाज्ञानक्रियात्मकाः शाम्भवशाक्ताणवोपायाः, काली-तारा-छिन्नमस्तारूपास्तिस्रो विद्याः, त्रिभिरुपायैर्मातृकारथमधिष्ठाय मलत्रयपरिपाकक्रमेण शक्तिपातपवित्रितोऽणुः शिवरूपं स्वात्मानं प्राप्तुं क्षमः। अणूनां रिरक्षिषयैव विद्यानामाविर्भाव इति कथाया रहस्यार्थः।

कुण्डलिनी शक्तिः

शक्तिसङ्गमतन्त्रस्य प्रथमे पटले—साऽनादिविद्या षट्शाम्भवेश्वरी वाच्यातीता पराकला काली महाप्रलये शिवशक्तिमयमेकं रूपम् (देहम्) आसाद्य तिष्ठति। तत्र प्रेतरूपा ब्रह्मविष्णुरुद्रादयः काल्या हृदयरूपे श्मशाने (हृदयाकाशे रिक्तरूपे) चितिरक्षास्वरूपत्वं प्राप्य नृत्यन्तो गायन्तश्च तिष्ठन्ति। तस्यामनन्तानन्तब्रह्मविष्णुमहेश्वरा इन्द्राश्च प्रतिवसन्ति। तस्यां शक्तौ तदा कोटिकोटिब्रह्माण्डाः स्वरूपेणावतिष्ठमानाः समुल्लसन्ति। चत्वारो वेदा युगाश्च शवरूपेण स्थिताः। सा चानादिकाली चिद्घनरूपेण सर्वात्मकत्वं सामरस्यं चास्थाय भ्राजते। अत्रान्तरे सा शक्तिः स्वबिम्बं प्रेक्षाञ्चक्रे, येन सद्यस्तद्बिम्बं मायात्वेन परिणतमभवत्। तया च मायया सृष्टिकार्यनिर्वाहाय मानसिकः शिवो भर्तृरूपः सृष्टः। मायासृष्टमानसिकशिवस्य संज्ञा आदिनाथ इति विहिता। तमादिनाथं स्वभर्तारं प्रकल्प्य महाशून्यं च विधाय तेन साकं सा विपरीतरतासक्ता त्रिंशदर्बुदषड्वृन्दपञ्चाशत्पद्मकोटियुगानरमत। तयोराश्लेषजन्यबिन्दुना महालावण्ययुतैका सुन्दरी समजनि, तस्याश्चैका मानसी शक्तिः परात्परोत्पन्ना, यस्या नाम महाकालीति सुन्दरीति वा लोके प्रसृतम्। तां विलोकयतो मानसशिवस्य महामोहः समजायत। कालीं प्रति गर्वान्वितां वाणीं कालः प्रोवाच। एतेन ध्वनेर्जन्म। मायादिनाथयोः प्रेम्णा बिन्दोर्जनिस्तु पूर्वमेवोक्ता। इत्थं बिन्दुध्वनिसकाशाद् वर्णाः संजज्ञिरे। अक्षरम्, वर्णः, मातृका, एते पर्यायाः।

अत एव मातृकाया अक्षर इति संज्ञाऽपि। काली कालं मोहयित्वा स्वयं सृष्टिव्यापार-निरताऽन्तर्हितेवाभूत्। कालो हि तया विरहितश्चकितो भ्रान्तचित्त इतस्ततः श्मशानाटनतत्परो विलपंस्तद्दर्शनार्थं पञ्चाशत्पद्मकोटियुगान् तपस्तेपे। तपसा प्रीता सा तस्मै ज्ञानं सर्वाकर्षणशक्तिं चादात्। भक्तप्रीत्या वरदा भवतीति वरदानचातुर्येण तां दक्षिणेति लोकाः स्मरन्ति। आकर्षणशक्तिं तस्मिन्नुत्पाद्य स्वयं तेनाकृष्टाऽऽगत्य च महाकालं तान्त्रिकयोगमार्गोपदेशं चकार। योगाभ्यासपरायणः कालः कुण्डलीध्यान-मग्नो बभूव। कुण्डलीशक्तिः स्वेच्छया किञ्चिदुच्छूना त्रिशक्तित्वमादधाना क्रमात्क्रमं स्वात्मानं स्फारयन्ती चतुरादिसंख्याक्रमवृद्धया पञ्चाशत्प्रकारतामिता तावत्संख्याक-वर्णमातृकात्वं लेभे। प्रतिवर्णमेका विद्या इत्येकपञ्चाशद्विद्यानामाविर्भावः। तासां नामानि—(१) काली (आद्या शक्तिः), (२) इच्छा, (३) ज्ञाना, (४) क्रिया, (५) चतुर्वेदेश्वरी, (६) महोग्रा, (७) सिद्धिकाली, (८) कालसुन्दरी, (९) भुवनाम्बिका, (१०) चण्डिकेश्वरी, (११) दशमहाविद्याः, (१२) श्मशान-कालिका, (१३) चण्डभैरवी, (१४) तारिणी, (१५) वशीकरणकालिका, (१६) महापञ्चदशी, (१७) महाषोडशी, (१८) छिन्नमस्ता, (१९) महा-मधुमती, (२०) महापद्मावती, (२१) रमा, (२२) श्रीकामसुन्दरी, (२३) दक्षिणकालिका, (२४) विद्येशी, (२५) गायत्री, (२६) पञ्चमी-सुन्दरी, (२७) षष्ठीविद्या, (२८) महारत्नेश्वरी, (२९) मृतसञ्जीवनी, (३०) महानीलसरस्वती, (३१) वसोर्धारा, (३२) त्रैलोक्यमोहिनी, (३३) त्रैलोक्यविजया, (३४) श्रीकामाख्यातारिणी, (३५) अघोरा, (३६) संगीतमोहिनी, (३७) बगला, (३८) अरुन्धती, (३९) अन्नपूर्णेश्वरी, (४०) नकुली (नाकुली), (४१) त्रिकण्टकीविद्या, (४२) राजेश्वरी, (४३) त्रैलोक्याकर्षिणी, (४४) राजराजेश्वरी, (४५) कुक्कुटी, (४६) सिद्धविद्या, (४७) मृत्युहारिणी, (४८) महाभोगवती, (४९) वासवी, (५०) फेत्कारी, (५१) महाश्रीमातृसुन्दरी (मातृकोत्पत्तिसुन्दरी) इति। यथा स्वेच्छया वलयत्रयं कृत्वा कुण्डलिनी स्थिता, तथैव सार्धत्रिवलयाकाराऽक्षोभ्यमुनिरूपिणी साऽनादि-विद्याऽपि। एतेन कुण्डलीत एव विद्योत्पत्तिरिति सूच्यते। प्राणतोषिण्यां तु कुण्डलीतः सर्ववर्णोत्पत्तिरुक्ता।

कालीविद्या गौडमार्गीया

केरल-कश्मीर-विलास-वैष्णव-चैतन्य-गौडादिभेदेनानेकानि मतानि तन्त्रेषु प्राप्यन्ते। आम्नायभेदेन मतानां सन्निवेशोऽपि कृतस्तत्र तत्र। शक्तिसङ्गमकालीखण्डे तृतीयपटले "उत्तरे गौड एव च" इति निर्देशात् कालीविद्या गौडमार्गस्येति निश्चि-तम्। एकैव शक्तिर्मार्गभेदेन विभिन्ननामभिराख्यायते—

केरले कालिका प्रोक्ता काश्मीरे त्रिपुरा मता।
गौडे तारेति संप्रोक्ता सैव लोकोत्तरा भवेत्॥ (शक्ति० ५।२४) इति।

किन्त्वेतद् हादिमतानुसारेण। कादिमतानुसारं तु—

अथ कादौ केरले तु त्रिपुरा सा प्रकीर्तिता।
काश्मीरे तारिणी बाला गौडे काली प्रकीर्तिता॥ (शक्ति० ५।२५) इति।

एतेनोत्तराम्नायस्य गौडमतस्य काली एव विद्या। गौडमतं चाष्टादशसु देशेषु प्रसरतीति शक्तिसङ्गमचतुर्थपटले प्रोक्तम्।

काल्युपासकाः कौलाः

काल्युपासका एव कौला इत्युच्यन्ते। "श्रीकाल्युपासका ये च तत्कुलं परिकीर्तितम्" (शक्ति० ४।३२)। एतेन काल्युपासनापि कुलपदेन गृह्यत इति सिद्ध्यति। यद्यपि तन्त्रालोके एकोनत्रिंशाह्निके कुलशब्दस्यानेकेऽर्था दत्ताः। तद्यथा—

कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता।
स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम्॥ इति।

व्याख्यातं च जयरथेन—"कुलं हि परमा शक्तिः" इति, "लयोदयश्चित्स्वरूपस्तेन तत्कुलमुच्यते" इति, "स्वभावे बोधममलं कुलं सर्वत्र कारणम्" इति, "सर्वकर्तृ विभु सूक्ष्मं तत्कुलं वरवर्णिनि" इति, "सर्वेशं तु कुलं देवि सर्वं सर्वव्यवस्थितम्" इति, "तत्तेजः परमं घोरम्" इति, "शक्तिगोचरणं वीर्यं तत्कुलं विद्धि सर्वगम्" इति, "कुलं स परमानन्दः" इति, "कुलमात्मस्वरूपं तु" इति, "कुलं शरीरमित्युक्तम्" इति च।

ललितासहस्रनामस्तोत्रव्याख्याने भास्कररायेणाऽन्येऽप्यर्थाः कुलशब्दस्य दत्ताः—"कुलं सजातीयसमूहः। स चैकज्ञानविषयत्वरूपसाजात्यापन्नज्ञातृज्ञेयज्ञानत्रयात्मकः, घटमहं जानामीत्येव ज्ञानाकारात्, ज्ञानभासनायानुव्यवसायापेक्षायां दीपभासनाय दीपान्तरापेक्षापत्तेः। उक्तं चाचार्यभगवत्पादैः—"जानामीति तमेव भान्तमनुभात्येतत्समस्तं जगत्" (द० स्तो०) इति। ततश्च सा त्रिपुटी कुलमित्युच्यते। तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायां द्वितीये विमर्शे—'मेयमानमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्' इति। ऊर्ध्वाधरभावेन विद्यमानेषु स्वच्छन्दसंग्रहादौ प्रपञ्चितेषु द्वात्रिंशत्पद्मेषु सर्वाधस्तनं पद्मं त्रिपुटीसम्बन्धाभावादकुलमुच्यते, तदुपरिस्थानि कुलसम्बन्धीनि। यद्वा—कुः पृथ्वीतत्त्वं लीयते यत्र तत्कुलमाधारचक्रं तत्सम्बन्धाल्लक्षणया सुषुम्णामार्गोऽपि। उपास्योपासकवस्तुजातस्य चित्त्वेन साजात्यात्तत्समुदायप्रतिपादकं शास्त्रमपि कुलम्। तथा च कल्पसूत्रे प्रयोगः—'कुलपुस्तकानि च गोपायेत्' इति। 'दर्शनानि तु सर्वाणि कुलमेव विशन्ति हि' इत्यागमे च। 'न कुलं कुलमित्याहुराचारः कुलमुच्यते' इति भविष्योत्तरपुराणवचनादाचारोऽपि कुलम्। कुलं नाम पातिव्रत्यादि-

गुणराशिशीलो वंशः, 'कुलं जनपदे गृहे। सजातीयगणे गोत्रे देहेऽपि कथितं कुलम्' इति विश्वः। तदुक्तं भविष्योत्तरपुराणे—'पूजनीया जनैर्देवी स्थाने स्थाने पुरे पुरे। गृहे गृहे शक्तिपरैर्ग्रामे ग्रामे वने वने ॥' इति। अधःस्थितं रक्तं सहस्रदलकमलमपि कुलम्। तत्कर्णिकायां कुलदेवीदलेषु कुलशक्तयश्च सन्तीति स्वच्छन्दतन्त्रेऽस्य विस्तरः। ईदृगर्थस्य कुलपदस्य परतः सम्बन्धसामान्यार्थे तद्धिते कौलम्। 'कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य संबन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥' इति तत्रोक्तम्। बाह्याकाशावकाशे चक्रं विलिख्य तत्र पूजादिकं कौलमिति रूढ्योच्यत इति कश्चित्। दत्तात्रेयसंहितायां तु—'मूलाधारादिकं चक्रषट्कं कुलमिति स्मृतम्' इत्यादि" इति।

एतेष्वर्थेषु सत्स्वपि काल्युपासकस्य कौल इति संज्ञा चिरप्ररूढा लोके दृश्यते। मूलाधारचक्रे सुषुम्णामार्गः कुलपदेनोच्यते, अत एव कौलाः कुलपूजका आधारसेवका इति कौलत्वं तेषाम्। कौलमार्गे शरीरस्यैव सर्वतीर्थभूमित्वमामन्यते। तेनाधारचक्रस्थितकुण्डलिनीशक्तिरूपकाल्युपासना कौलोपासनारूपेण प्रसिद्धिमितेति शक्तिसंगमस्य मतं शक्यसमर्थनमेव।

द्वादशधा काली

एकैव संविद्रूपा काली स्वस्वातन्त्र्यान्मानमेयमातृषु द्वादशधा भासते, अत एव तस्याः समाख्या तत्तन्नाम्ना भिद्यते। मन्त्राणामुदयहेतुरसौ व्योमरूपा व्योम्नि स्थिताऽपि तद्वर्जिता सर्वरूपाऽपि सर्वरहिता विश्वात्मिकाऽपि विश्वोत्तीर्णा सृष्टिकाली। प्रत्येकं काल्या लक्षणं श्रीपञ्चशतिकश्रीक्रमस्तोत्राभ्यामत्र दीयते—

मन्त्रोदया व्योमरूपा व्योमस्था व्योमवर्जिता।
सर्वा सर्वविनिर्मुक्ता विश्वस्मिन् सृष्टिनाशिनी ॥
या कला विश्वविभवा सृष्ट्यर्थकरणक्षमा।
यदन्तः शान्तिमायाति सृष्टिकालीति सा स्मृता ॥

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपामुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः ।
निलीयते नीलकुलालये वा तां सृष्टिकालीं सततं नमामि ॥

एतदनन्तरं स्थितिकाल्याः स्वरूपं लक्षणं च रक्तकालीपदेनोच्यते श्रीपञ्चशतिके—

न चैषा चक्षुषा ग्राह्या न च सर्वेन्द्रियस्थिता।
निर्गुणा निरहङ्कारा रञ्जयेद् विश्वमण्डलम्।
सा कला तु यदुत्पन्ना सा ज्ञेया रक्तकालिका ॥

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

महाविनोदार्पितमातृचक्रवीरेन्द्रकासृग्रसपानरक्ताम् ।
रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम् ॥

अतः परं संहारकालीस्वरूपमुभयत्र । तत्र श्रीक्रमस्तोत्रे—

वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्रप्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम् ।
शुचिर्ययास्तंगमितोऽर्चिषा तां शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम् ॥

श्रीपञ्चशतिकेऽपि—

हासिनी पौद्गली येयं वालाग्रशतकल्पना ।
कल्पते सर्वदेहस्था स्थितिः सर्गस्य कारिणी ॥
यदुत्पन्ना तु सा देवी पुनस्तत्रैव लीयते ।
तां विद्धि देवदेवेश स्थितिकालीं महेश्वर ॥

अतः परं यमकाली पञ्चशतिके—

यमरूपस्वरूपस्था रूपातीतस्वरूपगा ।
सा काली लीयते यस्यां यमकाली तु सा स्मृता ॥

श्रीक्रमभट्टारकेऽपि—

सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय ।
वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम् ॥

एवं प्रमेयांशग्रासरसिकं सृष्टिसृष्टि-सृष्टिस्थिति-सृष्टिसंहार-सृष्टितुरीयेत्यादि-देवीचतुष्टयं निरूपितम् ।

इदानीं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं स्थितिसृष्ट्यादिदेवीचतुष्कं प्रदर्श्यते । तत्र श्रीपञ्चशतिके—

चण्डकाली शुद्धवर्णा याऽमृतग्रसनोद्यता ।
भावाभावविनिर्मुक्ता विश्वसंहाररूपिणी ॥
यत्र सा याति विलयं सा च संहारकालिका ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा या भावसंहारनिमेषमेति ।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां संहारकालीं मुदितां नमामि ॥

स्थितिस्थितिः श्रीपञ्चशतिके—

ओमित्येषा कुलेशानी मृत्युकालान्तपातिनी ।
मृत्युकालकला यस्याः प्रविशेद्विग्रहं शिवः ॥
तदा सा मृत्युकालीति ज्ञेया गिरिसुताधव ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

ममेत्यहङ्कारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धतगर्वमृत्युः ।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम् ॥ इति ।

स्थितिसंहारः श्रीपञ्चशतिके—

गमागमसुगम्यस्था महाबोधावलोकिनी ।
मायामलविनिर्मुक्ता विज्ञानामृतनन्दिनी ॥
सर्वलोकस्य कल्याणी रुद्रा रुद्रसुखप्रदा ।
यत्रैव शाम्यति कला रुद्रकालीति सा स्मृता ॥
भेदस्य द्रावणाद्रुद्रा भद्रसिद्धिकरीति या ।

श्रीक्रमस्तोत्रेऽपि—

विश्वं महाकल्पविरामकल्पभवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या ।
याऽशनात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम् ॥

क्रमसद्भावभट्टारकेऽपि—

इदं सर्वमसर्वं यत्संहारान्तं तु नित्यशः ।
कुटिलेक्षणरेखान्तग्रस्तमस्तमितं च यत् ॥
ततो बोधरसाविष्टा स्पन्दमाना निराकुला ।
दीधितीनां सहस्रं यद्वमेच्च पिबते भृशम् ॥
सा कला लीयते यस्यां रुद्रकालीति सा स्मृता ।

स्थितितुरीयः श्रीक्रमस्तोत्रे—

मार्तण्डमापीतपतङ्गचक्रं पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय ।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि ॥

श्रीपञ्चशतिके च—

शब्दब्रह्मपदातीता षट्त्रिंशान्तनवान्तगा ।
ब्रह्माण्डखण्डादुत्तीर्णा मार्तण्डी मूर्तिरव्यया ॥
सा कला लीयते यस्यां मार्तण्डी कालिकोच्यते ।

एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं देवीचतुष्टयं निरूप्येदानीं प्रमात्रंशचर्वणाचतुरं देवीचतुष्टयं निरूपयति तन्त्रालोकविवेककारः । संहारसृष्टिः श्रीक्रमस्तोत्रे—

अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव ।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां परमार्ककालीम् ॥

श्रीपञ्चशतिकेऽपि—

एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता ।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी ॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव ।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण ॥

संहारस्थितिः श्रीपञ्चशतिके—

वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला।
अघोषा सा स्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम्।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयाऽमरवन्दित॥ इति।

श्रीक्रमस्तोत्रे—

कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्र क्रोडीकृतान्ताग्निकलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां तां नौमि कालानलरुद्रकालीम्॥

संहारसंहारः श्रीक्रमस्तोत्रे—

नक्तं महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम्।
कालीं महाकालमलं ग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम्॥

स एव श्रीपञ्चशतिके—

ऋतोज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता॥
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता।

संहारतुरीयः श्रीपञ्चशतिके—

दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा।
संहरेद् भैरवान् सर्वान् विश्वं च सुरपूजित॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद् भरितभैरवी।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा॥

स एव श्रीक्रमस्तोत्रे—

क्रमत्रयत्वाष्टमरीचिचक्रसंचारचातुर्यतुरीयसत्ताम्।
वन्दे महाभैरवघोरचण्डकालीं कलाकाशशशाङ्ककान्तिम्॥

कालीध्यानानि

श्रीकाल्या विभिन्नानि ध्यानानि विभिन्नतन्त्रेषु। तत्र मन्त्रमहार्णवे—

ॐ सद्यश्छिन्नशिरःकृपाणमभयं हस्तैर्वरं बिभ्रतीं
घोरास्यां शिरसां स्रजा सुरुचिरामुन्मुक्तकेशावलिम्।
सृक्कासृक्प्रवहां श्मशाननिलयां श्रुत्योः शवालङ्कृतिं
श्यामाङ्गीं कृतमेखलां शवकरैर्देवीं भजे कालिकाम्॥

कालीतन्त्रे—

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम् ।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम् ॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम् ।
एवं संचिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम् ॥

अन्यत्र च—

करालवदनां घोरां मुक्तकेशीं चतुर्भुजाम् ।
कालिकां दक्षिणां दिव्यां मुण्डमालाविभूषिताम् ॥
सद्यश्छिन्नशिरःखड्गवामोर्ध्वाधःकराम्बुजाम् ।
अभयं वरदं चैव दक्षिणाधोर्ध्वपाणिकाम् ॥
महामेघप्रभां श्यामां तथा चैव दिगम्बराम् ।
कण्ठावसक्तमुण्डालीगलद्रुधिरचर्चिताम् ॥
कर्णावतंसतानीतशवयुग्मभयानकाम् ।
घोरदंष्ट्राकरालास्यां पीनोन्नतपयोधराम् ॥
शवानां करसंघातैः कृतकाञ्चीं हसन्मुखीम् ।
सृक्कद्वयगलद्रक्तधाराविस्फुरिताननाम् ॥
घोररूपां महारौद्रीं श्मशानालयवासिनीम् ।
दन्तुरां दक्षिणव्यापिमुक्तलम्बकचोच्चयाम् ॥
शवरूपमहादेवहृदयोपरि संस्थिताम् ।
शिवाभिर्घोररूपाभिश्चतुर्दिक्षु समन्विताम् ॥
महाकालेन सार्ध्वोर्ध्वमुपविष्टां रतातुराम् ।
सुखप्रसन्नवदनां स्मेराननसरोरुहाम् ॥
एवं संचिन्तयेद् देवीं श्मशानालयवासिनीम् । इति ।

हंसतन्त्रे—

नमामि दक्षिणामूर्तिं कालिकां परभैरवीम् ।
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यां प्रवीरशवसंस्थिताम् ॥
गलच्छोणितधाराभिः स्मेराननसरोरुहाम् ।
पीनोन्नतकुचद्वन्द्वां पीनवक्षोनितम्बिनीम् ॥
दक्षिणां मुक्तकेशालीं दिगम्बरविनोदिनीम् ।
महाकालशवाविष्टां स्मेरानन्दोपरि स्थिताम् ॥
मुखसान्द्रस्मितामोदमोदिनीं मदविह्वलाम् ।
आरक्तमुखसान्द्राभिर्नेत्रालीभिर्विराजिताम् ॥

शवद्वयकृतोत्तंसां सिन्दूरतिलकोज्ज्वलाम् ।
पञ्चाशन्मुण्डघटितमालाशोणितलोहिताम् ॥
नानामणिविशोभाढ्यनानालङ्कारशोभिताम् ।
शवास्थिकृतकेयूरशङ्खकङ्कणमण्डिताम् ॥
शववक्षस्समारूढां लेलिहानां शवं क्वचित् ।
शवमांसकृतग्रासां साट्टहासं मुहुर्मुहुः ॥
खड्गमुण्डधरां वामे सव्येऽभयवरप्रदाम् ।
दन्तुरां च महारौद्रीं चण्डनादातिभीषणाम् ॥
शिवाभिर्घोररूपाभिर्वेष्टितां भयनाशिनीम् ।
मा भैर्मा भैः स्वभक्तेषु जल्पन्तीं घोरनिःस्वनैः ॥
यूयं किमिच्छथ ब्रूत ददामीति प्रभाषिणीम् ।

सिद्धकाली हि ब्रह्मरूपा भुवनेश्वरी दक्षिणकालिकाया एव रूपभेदः । कालीतन्त्रे तस्या ध्यानम्—

खड्गोद्भिन्नेन्दुबिम्बस्रवदमृतरसाप्लाविताङ्गी त्रिनेत्रा
सव्ये पाणौ कपालाद् गलदमृतमथो मुक्तकेशी पिबन्ती ।
दिग्वस्त्रा बद्धकाञ्ची मणिमयमुकुटाद्यैर्युता दीप्तजिह्वा
पायान्नीलोत्पलाभा रविशशिविलसत्कुण्डलालीढपादा ॥ इति ।
(का० त० १०)

कालीनामनिर्वचनम्

कालीनामनिर्वचनं महानिर्वाणतन्त्रे—

कालसंकलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी ।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते ॥

कामधेनुतन्त्रेऽपि—

कालसंकलनात् काली कालग्रासं करोत्यतः । इति ।

तत्रैव महाकालकालिकयोरन्वर्थत्वसंज्ञायां हेतुरपि—

तव रूपं महाकाली जगत्संहारकारकः ।
महासंहारसमये कालः सर्वं ग्रसिष्यति ॥
कलनात् सर्वभूतानां महाकालः प्रकीर्तितः ।
महाकालस्य कलनात् त्वमाद्या कालिका परा ॥ इति ।

कालीतन्त्रे तु—

कालनियन्त्रणात् काली ज्ञानतत्त्वप्रदायिनी । इति ।

श्मशानवासित्वे हेतुः कालीतन्त्रे—

> वह्निरूपा महामाया सत्यं सत्यं न संशयः ।
> अत एव महेशानि श्मशानालयवासिनी ।। इति ।

श्मशानशब्दस्यार्थः शब्दकल्पद्रुमे—शशब्देन शवः प्रोक्तः शानं शयनमुच्यते । निर्वचन्ति श्मशानार्थं मुने शब्दार्थकोविदाः ।। महान्त्यपि च भूतानि प्रलये समुपस्थिते । शेरतेऽत्र शवो भूत्वा श्मशानस्तु ततो भवेत् ।। एतेन पञ्चभूतानां पर्यन्ततश्चिद्रूपब्रह्मणि लयेन तद् ब्रह्म आद्यकाल्याः नामान्तरमेव । अथवा सांसारिकाः कामक्रोधादिका भावा यत्र लीयन्ते तदेव श्मशानं नाम । काली च श्मशानवासिनी सांसारिकवासनाशून्ये भक्तहृदये श्मशानकल्पे निवसतीति तस्या निवृत्तिपथैव प्राप्तिः सूचिता ।

काल्याः कृष्णवर्णस्वीकारे हेतुर्महानिर्वाणतन्त्रे १३ तमे उल्लासे—

> श्वेतपीतादिको वर्णो यथा कृष्णे विलीयते ।
> प्रविशन्ति तथा काल्यां सर्वभूतानि शैलजे ।।
> अतस्तस्याः कालशक्तेर्निर्गुणाया निराकृतेः ।
> हितायाः प्राप्तयोगानां वर्णः कृष्णो निरूपितः ।। इति ।

कर्पूरादिस्तोत्रटीकायां च शुद्धसत्त्वगुणात्मकघनीभूततेजोमयत्वात् तथा चिदाकाशत्वाच्च नीलवर्णा इत्युक्तम् । योगवाशिष्ठेऽपि—"शिवयोर्व्योमरूपत्वादसितं लक्ष्यते वपुः" इत्युक्त्या शिवाशिवयोश्चिदाकाशरूपत्वेन ब्रह्मरूपता । अत एवासितविग्रहवत्त्वं तयोरुच्यते । त्रिपुरासारसमुच्चये तु—"मोक्षे साक्षादपेताम्बुदगगननिभां भावयेद् भक्तिगम्याम्" इत्यत्र मेघरहितगगनतुल्यतया नीलवर्णतैव प्रतिपाद्यते । एतेन वर्णसाम्यमादायैव तन्त्रेषु कृष्णकालिकयोरैक्यवर्णनमपि सुसंगतमेव । लिङ्गभेदस्यानभिधानं तु पूर्वमेवोक्तम् ।

काश्मीरप्रचलितदशविद्यानामानि

काश्मीरप्रचलितदशविद्यानामानि कृत्तिवासःप्रोक्तानि—

> त्रिपुरा श्रीश्च वाग्देवी तारापि भुवनेश्वरी ।
> मातङ्गी शारिका राज्ञी मीडा ज्वालामुखी तथा ।।
> दश विद्याः स्वयं चैता भाषिताः कृत्तिवाससा ।
> एता दशैव षडन्या योजिता षोडशाक्षरी ।
> दशविद्या भद्रकाली तुरी च छिन्नमस्तका ।
> दक्षिणा कालिका श्यामा कालरात्र्यपि सुन्दरि ।।
> एतासां मूलमन्त्रेण योजितैकाक्षरेण च ।
> ब्रह्मादिदैवतैः पूज्या विद्या श्रीषोडशाक्षरी ।।

त्रिपुरेति नाम्नोऽनेकेऽर्थाः संभवन्ति। तद्यथा—

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम॥
(नित्याषोडशिकार्णवटीकासेतुबन्धे, पृ० २०)

ब्रह्मविष्णुरुद्रेभ्यः प्राग्भाविनी ऋग्यजुःसाममयी त्रिलोक्याः प्रलयकालेऽपि लोकत्रयपूरयित्री विमर्शरूपा आद्याशक्तिरेव त्रिपुरेति प्रसिद्ध्यति। गुह्यहृद्भ्रूमध्य-लक्षणस्य पुरत्रयस्याधिष्ठात्री देवता त्रिपुरा। मूलविद्यासम्बन्धिनी वाग्भवकामराज-शक्त्याख्यवीजत्रयस्याधिष्ठात्री वा त्रिपुरा। अथवा—इच्छाज्ञानक्रियारूपाणां पुराणां सृष्टिकर्त्री त्रिपुरा। वस्तुगत्या तु स्पन्दस्फुरत्तासारोर्मिहृदयसद्भाव-कालसंकर्षिणी-त्रिपुराशब्दाः पर्याया एव। (वामकेश्वरीमतविवरणे पृ० १०३)

त्रिपुराविद्याया एव श्रीविद्या इत्यपि नाम। अस्या मन्त्रः पञ्चदशाक्षरः। अस्या व्याख्यानं वामकेश्वरतन्त्र-नित्याषोडशिकार्णव-योगिनीहृदय-वामकेश्वरीमत-श्रीविद्यार्णव-श्रीतत्त्वचिन्तामणि–ऋजुविमर्शिनी-अर्थरत्नावली–परात्रीशिका-दक्षिणामूर्तिस्तोत्र-सौन्दर्यलहरीस्तोत्र–मातृकाचक्रविवेक–शिवसूत्रविमर्शिनी–स्पन्दकारिका-स्पन्दसन्दोह-स्पन्दनिर्णय-स्पन्दप्रदीपिकादिग्रन्थेषु भूरिश उपलभ्यते। वामकेश्वरीमते—गणेशग्रह-नक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्। देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्॥ प्रणमामि महादेवीं मातृकां परमेश्वरीम्। कालहल्लोहलोल्लोलकलनाशमकारिणीम्॥ यदक्षरैक-मात्रेऽपि संसिद्धे स्पर्धते नरः। रवितार्क्ष्येन्दुकन्दर्पशंकरानलविष्णुभिः॥ यदक्षरशशि-ज्योत्स्नामण्डितं भुवनत्रयम्। वन्दे सर्वेश्वरीं देवीं महाश्रीसिद्धमातृकाम्॥ यदेका-दशमाधारवीजकोणत्रयोद्भवम्। ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते॥ अकचा-दिटतोन्नद्धपयशाक्षरवर्गिणीम्। ज्येष्ठाङ्गबाहुहृत्पृष्ठकटिपादनिवासिनीम्॥ तामीकारा-क्षरोद्धारसारात्सारां परापराम्। प्रणमामि महादेवीं परमानन्दरूपिणीम्॥ अद्यापि यस्या जानन्ति न मनागपि देवताः। केयं कस्मात् क केनेति स्वरूपारूपभावनाम्॥ वन्दे तामहमक्षय्यक्षकाराक्षररूपिणीम्। देवीं कुलकलोल्लोलप्रोल्लसन्तीं परौलिजाम्॥ वर्णानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम्। वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्ध्यष्टके-श्वरीम्॥ इति। एषु श्लोकेषु शब्दकारणभूतां मातृकामेवाधिकृत्य सर्वजगज्जनन-कारणत्वं प्रतानितम्। षोडशनित्या एव षोडशमातृकापदेन लोके पूज्यन्ते।

कालपदव्युत्पत्तिस्तदर्थश्च

कल शब्दसंख्यानयोः, कलते, भ्वादिः। कल बिल क्षेपे, कालयति कालयते, चुरादिः। कल गतौ संख्याने च, चुरादिरेवादन्तः, कलयति कलयते। कालयति काल-यते वा कालः पचादेशस्य आकृतिगणत्वात् कर्तरि अच्, कर्तृव्युत्पत्तावेव कालकाल्योः

साधुत्वस्य श्रीमदभिनवगुप्त-जयरथादीनामिष्टत्वात्[1]। कलयतीति तत्र तत्र प्रयोगस्तु अर्थानुरोधात्। कालो हि भावानां भासनाभासनात्मकानां क्रमोऽवच्छेदको भूतादिः, अज्ञासिषं जानामि ज्ञास्यामीति, अकार्षं करोमि करिष्यामीति ज्ञानक्रियास्वरूपेण भावानपि तेन तेन रूपेण कलयन् परिच्छिनत्ति। स हि जीवनिष्ठनित्यतां प्रतिबध्नातीति ज्ञानक्रिययोरवच्छेदकतया कञ्चुकः। "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः", "कालो जगद्भक्षकः", "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः", "कालः पचति भूतानि", "न कालः कलयेच्च तम्", "कालाधीनमिदं विश्वम्", "कालः कलयतामहम्", "कालेन नीयते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्" इत्यादिवचनशतैः कालस्य जगत्कवलयितृत्वं वेदशास्त्रपुराणस्मृतीतिहासादिग्रन्थेषु प्राचुर्येण वर्णितं सूपपद्यते। सर्वमपि चराचरं कस्मिंश्चित्काल एव "जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति" इति षड्भावविकारान् लभते। अतः सृष्टिस्थितिसंहारेषु कालस्य सत्ताऽनिवार्यतया जागरूका विजृम्भते।

परमार्थतः शिव एव कालः

कालस्वरूपविवेचने नैकमत्यं वेदशास्त्रादिवाङ्मये प्राच्यपाश्चात्त्यविद्वत्सु वाऽवलोक्यते। आगमशास्त्रे षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु कालोऽप्यन्यतमतत्त्वतया स्वीक्रियते। ज्ञानक्रिययोरेव जगदिदं विश्रान्तमिति वस्तूनां ज्ञानक्रियार्थकत्वं ज्ञानक्रियात्मकत्वं च प्रसिद्धम्। ज्ञानादृते वस्तुसत्ता न केनापि गोचरीकर्तुं पार्यत इति जगतो ज्ञानरूपत्वमेवागमराद्धान्तेऽपि। क्रमाक्रमाभ्यामुभयथैव भावा भासन्ते। क्रमेण कार्यकारणभावादौ, अक्रमेण चित्रज्ञानादौ। द्रष्टव्ये हि चित्रपटे प्रथमं सर्वस्यापि चित्रपटस्य दर्शनमक्रममेव जायते, तदनु तत्रैकैकस्य वस्तुनो निर्धारणपूर्वकं समीक्षणं क्रमश इति। भावेषु या नामैवंविधा कलना (परिच्छित्तिः), सैव क्रमाक्रमात्मा कालः। स च भैरवरूपी कालः[2] परमेश्वर एव प्रकाशात्मा। प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः। विमर्शो नाम परमेश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहारनिग्रहानुग्रहकारिणी स्वाभिन्ना स्वातन्त्र्यात्मिका इच्छापरपर्याया स्फुरत्तासारा शक्तिरेव।

---

१. "कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यतः।" (तन्त्रा० ९, पृ० २०१)
"कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः॥" (मालिनीविजयोत्तरे १।२९)
"कल शब्दे, कल विल क्षेपे, कल संख्याने, कल गतौ इति धात्वर्थानुगमात् क्रमेण कलयन्ति, परामृशन्ति, क्षिपन्ति, विसृजन्ति, संहरन्ति च, गायन्ति, जानते चेति काल्यः, ता एव कालिकाः। एता द्वादशशक्तयो योगिनीपदेनोच्यन्ते, कालिका एव योगिन्यः, नाममात्रे भेदो न वस्तुनि।" (तन्त्रा० ३ आ०, पृ० २३५)

२. "भैरवरूपी कालः सृजति जगत् कारणादिकीटान्तम्।"
(तन्त्रालोकविवेके, आ० ४, पृ० १९८)

शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावसम्बन्धः। शक्तिशिवयोः कदाचिदपि पार्थक्याभावेऽपि शक्तिरेव जगत्कर्त्री, शिवस्तु प्रकाशात्मा जडकल्प एव। अथापि तयोर्नित्यसिद्धैक्येन शिवस्यापि पञ्चकृत्यकारित्वव्यपदेशो न विरोधमावहति।

कालीशक्तेः पञ्चधोल्लासः

स च परमेश्वरः कालः, कालकालः, महाकाल इत्यादिसमाख्यां भजते। कलनस्य ये पञ्चार्थास्तन्त्रालोके निर्दिष्टास्ते एव न पर्याप्ताः, तन्त्रसारे गणनं भोगीकरणं स्वात्मलयीकरणमित्याद्यर्थदर्शनेन प्रतीयते कलनाऽनाक्रान्तं न किमपि स्थानं वस्तु वा जगति। कलतिः कामधेनुः कवीनामित्यभियुक्तोक्त्या कलनस्य सर्वात्मकत्वमाञ्जस्येन वक्तुं युज्यते। तस्याभिन्ना पराशक्तिरेव कालीनाम्ना[1] व्यपदिश्यते। प्रकाशस्वरूपस्य महेश्वरस्य स्वेच्छावभासितस्य प्रमातृप्रमाणप्रमेयाद्यात्मकस्य जगतस्तत्तद्रूपतया कलनसामर्थ्यमेव शक्तिः, न तु स्वात्मनि क्रमाक्रमयोः कोऽप्यवकाशः। अग्नेर्दाहिका शक्तिः स्वेतरवस्तुनि प्रक्रमते, न तु स्वात्मनि। चन्द्रिका स्वेतरानाह्लादयति, न तु स्वात्मानमिति शक्तेरपि स्वेतरजगदाभासने एव क्रमाक्रमत्वोपयोगः। तदेवं पूर्वोक्तार्थककलधातुचतुष्टयस्य पञ्चधाऽयमर्थ उदेति[2]—क्षेपो ज्ञानं संख्यानं गतिर्नाद इति। गतेश्चत्वारोऽर्था गमनज्ञानप्राप्तिमोक्षाख्याः प्रसिद्धास्ततो ज्ञानप्राप्ती एवात्र गृह्येते। अकुलस्य शिवस्य कौलिकी शक्तिर्विश्वावभासनक्रमे स्वभित्तौ स्थितस्य विश्वस्य स्वातन्त्र्यरूपया स्वेच्छया बहिरुल्लासनं करोतीत्ययं क्षेपः। बहिरुल्लासितस्य तस्य स्वाभेदेन परामर्शो ज्ञानम्। भेदितस्यैव प्रमातृप्रमेयादेरर्थस्य परस्परापोहनात् 'इदमिदं नानिदम्' इति प्रतिनियततयाऽवस्थापनात् संख्यानं (गणनं) विकल्पः। गतिश्चात्र गत्युपसर्जना प्राप्तिः। तद्भेदितोऽर्थः संविल्लक्षणं स्वरूपमारोहति प्राप्नोतीति स्वरूपारोही, तस्य भावस्तत्त्वम्। न चैतत्कट इव देवदत्तस्य भेदप्रधानमपि तु भेदाभेदप्रधानं प्रतिबिम्बवत्। प्रतिबिम्बं हि बिम्बादभिन्नमपि भिन्नतयैवावभासते, यथाऽनात्मनि प्ररूढात्मभावस्य जनस्यात्मन्यात्माभिमानो न प्रथमतो दृढसत्ताकोऽपि तु भेदसहिष्णुरेवेति। प्रतिबिम्बलक्षणं यथा तन्त्रसारे—यद् भेदेन भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत्प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे। दर्पणे मुखं प्रतिबिम्बितं मुखरूपं मुखे समवेतमिति मुखपार्थक्येन मुखरूपस्य न कदाप्यवस्थितिरिति न तन्मुख्यम्। रस इव दन्तोदके। यथा कश्चिदातुरो व्याधिशमनार्थं रसं गृह्णाति, किन्तु दन्तोदकलग्नरसेन न व्याधिशान्तिरपि तु भक्षितेनेति नासौ मुख्य इति। पूर्वोक्तानां चतुर्णामपहस्तनात् स्वात्मपरा-

---

१. कालीनाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते। (तन्त्रा० ६।७)

२. स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम्।
ज्ञानं विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात्॥
गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्।
नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्॥ (तन्त्रा० ४।१७४-१७५)

मर्शशेषता नादः, नदनमात्ररूपत्वात्। यदाऽहमिति स्वात्मपरामर्श एव शिष्यते, तदा क्षेपज्ञानसंख्यानगतीनां परित्यागोऽनिवार्यतया जायते। नदनमात्ररूपां कलनां कुर्वन् साधकश्चिदानन्दघनपूर्णाहन्तासमाविष्टः शाक्तोपायप्रतिपन्नतया परशाक्तरूपो मुक्त एव। यथोक्तं तन्त्रालोकविवेके—"संविदेव हि आश्यानीभूता नीलादिरूपतामधिशयाना प्रमाणोपारोहद्वारेण तद्रूपतां विलाप्य प्रमातरि विश्रान्तिमभ्युपगच्छन्ती स्वेन प्रमात्रेकात्मना रूपेण प्रस्फुरति (आ० ४, पृ० १४१) इति।

किञ्च, कालस्यापि कलयित्री काली। तदुक्तं महानिर्वाणतन्त्रे—

कालसंकलनात् काली सर्वेषामादिरूपिणी।
कालत्वादादिभूतत्वादाद्या कालीति गीयते॥ इति।

कालीशक्तेः पर्यायाः

पूर्वोक्तपञ्चविधां कलनां कुर्वती सा कालीशक्तिर्देवी काली कालकर्षणी च कथ्यते। आगमशास्त्रे—शिवः, मन्त्रमहेश्वरः, मन्त्रेश्वरः, मन्त्राः, विज्ञानाकलः, प्रलयाकलः, सकल इति सप्त प्रमातारः स्वीक्रियन्ते, सप्तस्वपि प्रमातृषु सा कालशख्या संवित्तिष्ठतीति मातृसद्भाव इत्यपि तस्याः संज्ञा। देवदेवात् परभैरवान्निर्गतत्वाद् विश्ववमनशीलत्वाच्च वामेश्वरीति सा निगद्यते। एवमन्याः शतसहस्रशः तस्या आख्याः कार्योपाधिवशाज्जायन्ते। कलधातोरेव [1]कलाशब्दोऽपि निष्पद्यते। तदुक्तमृजुविमर्शिन्याम्—"कुलं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्म जगत्, कलयति बहिःक्षिपति पारमित्येन परिच्छिनत्तीति कला" इति। एतादृशार्थकरणेऽनिष्टप्रयोगाशङ्का अनभिधानाद्वारणीया। कला च स्थूलजगत उपादानकारणम्। सर्वकर्तृत्वशक्तिमत ईश्वरस्य किञ्चित्कर्तृत्वहेतुः कला, तस्याश्च विद्यारागकालनियतिरूपं तत्त्वचतुष्कं जन्यते। कलादिनियत्यन्ततत्त्वपञ्चकेन कञ्चुकितस्य पशोर्न सर्वत्राप्रतिहतं कर्तृत्वमपि तु क्वचिदेवेति कलाकलनवैभवम्। यथा कलया सर्वकर्तृत्वं संकोच्य नियन्त्र्यते, तथैव कालेनापि क्रमाक्रमाभ्यां जगदिदं नियम्यते। कर्तृत्वमात्रसंकोचिका कला, कालस्तु कार्यत्वकर्तृत्वयोरुभयोरिति विशेषः। कलनैव विजृम्भापदेनाप्युच्यते[2]। सेयं विजृम्भापरपर्यायां कलनां कुर्वती काली पूर्णसंवित्स्वभावा कुलम्, सामर्थ्यम्, ऊर्मिः, हृदयम्, सारः, स्पन्दः, विभूतिः, चित्, चितिः, चैतन्यम्, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यम्, त्रीशिका, कर्षणी, चण्डी, वाणी, भोगः, दृक्, नित्या, परमात्मनो मुख्यमैश्वर्यम्, कर्तृत्वम्, स्फुरत्ता, विश्रान्तिः, हृत्प्रतिभा, प्राणनाशक्तिः, उद्यमः, स्फूर्तिः, ओजः, बलम्, कला, अहन्ता—इत्यादिभिरागमभाषाभिस्तत्तदन्वर्थप्रवृत्ताभिरभिधीयते।

---

१. "गुरोश्च हलः" इत्यत्र चोऽप्यर्थः। तेनागुरुमतोऽपि हलन्तात् कर्तरि अङि टापि च कलाशब्दनिष्पत्तिः।

२. इमाः प्रागुक्तकलनास्तद्विजृम्भोच्यते यतः। (तन्त्रा० ४ आ०, पृ० १५५)

कालीशक्तेर्भेदोपभेदाः

एवंभूता सा कालीशक्तिरेकाऽद्वयापि विश्वावभासन-संरक्षण-स्वात्मविमर्शादि-रूपया परा-परापरा-अपराख्यया त्रेधा विभिद्यते। तिसृभिः शक्तिभिर्विश्वकार्यनिर्वाहः सम्पद्यते। यद्यपि विश्वस्य नानात्वात् शक्तीनां नानात्वमर्थाल्लब्धं तथापि गौणमुख्य-न्यायेनोक्तसंकलना। यया[1] षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकमिदं विश्वं शिवादिधरण्यन्तं निर्विकल्प-संविन्मात्रतया ध्रियते, ज्ञायते, भास्यते च; सा पराशक्तिः। यया च पूर्वोक्तं जगत् प्रतिबिम्बितवस्तुवद् भेदाभेदाभ्यां सर्जनपालनविमर्शाद्यात्मना विषयीक्रियते सा परापरा। यया च प्रत्येकं वस्तु प्रमातृप्रमाणप्रमेयाद्यात्मना भेदेन भास्यते, सा अपराशक्तिः। आसां तिसृणामात्मन्येव क्रोडीकारेण अनुसन्धानात्मना वा यया ग्रासः, सा कालकर्षणी चतुर्थी। चतस्रोऽप्येताः सृष्टिस्थितिसंहारभेदात् प्रत्येकं त्रिधा भिद्यमाना द्वादशसंख्याका भवन्ति। तद्यथा[2]—सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थितिः, सृष्टिसंहारः, सृष्टितुरीयम्; स्थितिसृष्टिः, स्थितिस्थितिः, स्थितिसंहारः, स्थितितुरीयम्; संहारसृष्टिः, संहारस्थितिः, संहारसंहारः, संहारतुरीयमिति। प्रत्येकं काल्या लक्षणादिकं श्रीपञ्च-शतिकक्रमस्तोत्रावाश्रित्य प्रतिपादयिष्यते। स एष द्वादशविधकलनस्वरूपानुगमः कृतस्तन्त्रसारे चतुर्थाह्निके—

१—संवित् पूर्वमन्तरेव भावं कलयति।
२—ततो बहिरपि स्फुटतया कलयति।
३—तत्रैव रक्तिमयतां गृहीत्वा ततः तमेव भावमन्तरुपसंजिहीर्षया कलयति।
४—ततश्च तदुपसंहारविघ्नभूतां शङ्कां निर्मिणोति च ग्रसते च।
५—ग्रस्तशङ्कांशभावभागमात्मन्युपसंहारेण कलयति।
६—तत उपसंहर्तृत्वं ममेदं रूपमित्यपि स्वभावमेव कलयति।
७—तत उपसंहर्तृस्वभावकलने कस्यचिद् भावस्य वासनात्मनाऽवस्थितिं कस्यचित्तु संविन्मात्रावशेषतां कलयति।
८—ततः स्वरूपकलनानान्तरीयकत्वेनैव करणचक्रं (इन्द्रियाणि) कलयति।
९—ततः करणेश्वरमपि कलयति।
१०—ततः कल्पितं मायीयं प्रमातृरूपमपि कलयति।
११—संकोचत्यागोन्मुखविकासग्रहणरसिकमपि प्रमातारं कलयति।
१२—ततो विकसितमपि रूपं कलयति।

तदित्थं सृष्टिसृष्ट्यादि-संहारतुर्यान्ता द्वादशशक्तयः स्वरूपलक्षणतया संक-लिताः। एभिरेव शक्तीनां भेदद्वादशकैः समस्तव्यस्तभावेन सकलोऽपि लोकव्यवहारो नितरां समभिचाल्यते।

---

१. द्रष्टव्यं तन्त्रसारस्य ४ आह्निकम्।
२. द्रष्टव्यं महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १०४।

महार्थमञ्जरीपरिमलेऽनाख्याभासात्मकं शक्तिद्वयं निग्रहानुग्रहस्थाने स्थापयित्वा सृष्ट्यादिपञ्चशक्तीनां भेदाः सलक्षणं षट्पञ्चाशद्धा वर्णिताः। तद्यथा—सृष्टिर्नाम उद्योगावभासचर्वणात्मविलापननिस्तरङ्गत्वलक्षणप्रथापञ्चकसमष्टिः, तस्याः कलाः क्रियाज्ञानेच्छोद्योगप्रतिभास्वभावसृष्टिस्थितिसंहारानाख्याभासास्वरूपाः। स्थितिर्हि नाम सृष्टानां पदार्थानां यावत्संजिहीर्षोदयमवैयाकुल्येनावस्थानम्। तदुक्तम्—स्थितिर्हि नाम स्वरूपस्य तत्तद्रूपतया धृतिः। तस्यां द्वाविंशतिः कलाः—शिरश्चक्रे युगनाथाश्चत्वारस्तद्देव्यश्चतस्र इत्यष्टौ। हृदयषट्कोणे साधिकारनिरधिकारविभागेन राजपुत्राणां द्विषट्कम्। तन्मध्ये कुलेश्वरः कुलेश्वरीति द्वाविंशतिः। संहारो नाम—बहिरुद्वान्तानां भावानां पारमेश्वरे प्रकाशे पुनः प्रसूत्यौचित्येन वटधानादिनीत्या वासनात्मतयाऽवस्थानम्। अत्र शक्तय एकादश, ताश्च सर्वान्तःकरणसमष्टिभूतमहङ्कारं बाह्येन्द्रियदशकं च भक्षयन्त्यः स्फुरन्तीति एकादश। अन्यत्रोक्तानुग्रहस्थानीया भासा तु पञ्चमी शक्तिः। सा चिन्मयी एकैव षोडशीरूपा सप्तदशीरूपा वा। चतुर्थ्या अनाख्यशक्तेस्त्रयोदशशक्तय इति षट्पञ्चाशत्। इत्थं संख्यातीतैर्भेदैर्भासमाना सा विभिन्नदर्शनानुयायिभिर्विभिन्नैः स्वरूपैर्भाव्यते—

येन येन स्वरूपेण भाव्यते तस्य तन्मयी।
माहेश्वराणां शक्तिः सा सांख्यानां प्रकृतिः परा।
महाराज्ञी च सौराणां तारा सुगतवादिनाम्।
लोकायतिकमुख्यानां तदात्वा सा प्रकीर्तिता।
शान्ता पाशुपतादीनामर्हतां श्रीश्च तद्विदाम्।
श्रद्धा हैरण्यगर्भाणां गायत्री वेदवादिनाम्।
अज्ञानतिमिरान्धानां सर्वेषां मोहिनी स्मृता।

(महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १०७)

क्रमदर्शने तु सैव कालीशब्देनोच्यते। यथोक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

सैव काली महादेवी गीयते लोकवेदयोः।
इतिहासेषु तन्त्रेषु सिद्धान्तेषु कुलेषु च॥ (पृ० १०७)

कार्योपाधिवशात्तस्या एव पराशक्तेर्माता, देवता, दूती, कालिकेत्याद्याः संज्ञा लोके।

जन्मकाले भवेन्माता पूजाकाले च देवता।
रतिकाले भवेद् दूती मृत्युकाले च कालिका॥

(म० म० प०, पृ० १०७)

इयमेव कालीशक्तिर्विश्वस्य योनिः। स्वतन्त्रा सा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। तस्याः स्वातन्त्र्यस्यैष महिमा येनाऽसौ स्वात्मनापि भासते परात्मनापि;

अर्थाद् आत्मानं परीकरोति, परमप्यात्मीकुरुत इति। सर्वथाऽनर्गलमनन्योन्मुखं स्वाच्छन्द्यमस्याः। अत एव यदा सा स्वात्मानं परोपाधिकतया भासयितुं चेष्टते, तदा शिवस्य शक्तिरिति व्यपदेशं लभते; यदा तु स्वविश्रान्ततया तिष्ठति तदा चितिः, चित्, विमर्श इत्यादि। वस्तुतस्तु शिवशक्तीति यामलमेव तत्त्वम्। तयोः पार्थक्यचिन्तनमेव दुःशकम्।

परतत्त्वात्मकं कालीतत्त्वं लिङ्गातीतम्

कालीति स्त्रीलिङ्गशब्देन कालीतत्त्वस्य स्त्रीलिङ्गत्वं लोके व्यवह्रियते, किन्तु परतत्त्वात्मके पूर्णे वस्तुनि लिङ्गप्रयुक्तव्यवहारः साधकरुच्यनुसारं कल्पित एव, न तु वास्तविकः। ब्रह्मविष्णुरुद्रसूर्यगणपतिशक्तीत्यादिशब्देषु तत्तल्लिङ्गप्रयोगो भावनौपयिक एव। चिद्गगनचन्द्रिकोक्तश्लोके परतत्त्वात्मककालीतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतां निषिध्य पुनस्तत्त्रयस्य स्फोरणसामर्थ्यमपि तस्या एवेति शक्तिसंबोधनपुरःसरं प्रतिपादितम्—

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिङ्गता त्वां विना न तदपि स्फुरेत् त्रयम्॥ इति।
(२७३ श्लो०)

श्वेताश्वतरवचने तु भङ्गिभेदेन परतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतां प्रतिपाद्य बाल्ययौवनवार्द्धक्याद्यवस्थामयत्वमपि तस्योत्प्रेक्षितम्—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चयसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ (४।३)

तन्त्रतत्त्वोद्धृतनवरत्नेश्वरतन्त्रवचने तु कालीतत्त्वस्य त्रिलिङ्गतानिषेधमुखेन जडत्वमसंभाव्यमपि निषिध्य कल्पवल्लीदृष्टान्तेन स्त्रीशब्दवाच्यत्वमेव निश्चितम्। यथा—

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जडः स्मृतः।
तथापि कल्पवल्लीवत् स्त्रीशब्देन च युज्यते॥
(शिवचन्द्रविद्यार्णवे, भाव १, पृ० ३५४)

चिद्गगनचन्द्रिकोक्तं कालीशक्तिस्वरूपम्

साम्प्रतं चिद्गगनचन्द्रिकोक्तं कालीशक्तिस्वरूपं संक्षेपेणोच्यते। अस्य कर्ता कालिदासोऽत्र स्तुतिच्छलेन क्रमतत्त्वमनुरुद्ध्य सर्वतत्त्वात्मकतया कालीतत्त्वस्य वर्णनं प्रक्रान्तवान्। प्रथमश्लोके गणेशः स्तूयते। गणेशशब्दस्यानेकेऽर्था विभिन्नासु टीकासूपलभ्यन्ते। तन्त्रालोकविवेकेऽहङ्कारार्थे गणेशशब्दः प्रयुक्तः। "गणस्य करणचक्रस्य पतिः अहङ्काररूपः प्रभुः, स च देवीसुतः" (तन्त्रा० विवेके १ आ०, पृ० २२-२३)। अर्थरत्नावल्यां तु "गणा आदिक्षान्ता वर्णाः, तेषामीशाः श्रीकण्ठादयो रुद्राः पञ्चाशत्संख्याका वर्णा इति यावत्। अथवा गणा इन्द्रप्रमुखाः 'इन्द्रज्येष्ठा मरुद्गणाः'

इति श्रुत्युक्ता मरुद्गणाः पञ्चाशत्। तेऽपि वर्णात्मका इत्यर्थः" इत्येवं वर्णमातृकेशः शक्त्युद्भूतो गणेशो वर्ण्यते। 'अत्रापि गणेश आद्यस्पन्दस्वरूपः सकृदोङ्कारशुण्डः क्रियादृग्दन्त्यास्यो निस्तरङ्गचिद्व्योमरुचिविसरलसद्बिन्दुवक्रोर्मिमालं स्फारनादं प्रस्फोरयन् प्रथते। अहङ्काररूपार्थेऽप्यकारहकारयोः प्रत्याहारन्यायेनानुत्तराकुलस्वरूपादकारादारभ्य शक्तिस्फाररूपहकलापर्यन्तं यद् विश्वं प्रसृतं तत्पुनरन्तः स्वीकृतं सदविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतया स्फुरितमनुत्तरेऽकारे विश्राम्यति। यथोक्तम्—"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः। हकारोऽन्त्यकलारूपो विमर्शः परिकीर्तितः॥" इति। तेन अकार एव शिवरूपो बिन्दुः, हकारश्चान्त्यकलारूपो नादः। अर्थादनुत्तरविसर्गात्मिके ये शिवशक्ती, तयोरद्वयं सामरस्यमेवाहमिति। तत्र शिव इति शक्तिरिति पृथक् पृथक् परामर्शो नास्ति। अत एवाजडप्रमातृसिद्धौ—"प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः" इत्युक्तम्। मातृकाशब्दो हि मात्यस्यां जन्तुरिति माता, अज्ञाता माता मातृका, अज्ञातार्थे कनि सिद्ध्यति। अत एव स्पन्दकारिकायाम्—"बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका" इत्युक्तम्। शिवसूत्रे—"ज्ञानाधिष्ठानं मातृका" इत्युक्त्वा "ज्ञानं बन्धः" इति सूत्रनीत्या अहं ममेदमिति भेदज्ञानात्मकं शब्दानुवेधजं मायीयमलमूलकं तद्बन्धनमावरणविक्षेपात्मकमित्युक्तम्। वर्गाधिष्ठात्र्यो ब्राह्म्याद्याः शक्तयो योनयः, ता एवाकारादिक्षकारान्ताः कलाः शब्दकारणम्। एता एव कला रश्मिरूपाः शब्दकारणतया पशोः प्रत्ययोद्भासिकाः। यतः शब्दानुविद्धज्ञानवन्त एव जीवाः, अतो बद्धा विलुप्तविभवाश्च। भैरवरूपश्चिदात्मा परिपूर्णस्वभावः शिवस्तु सर्वास्ववस्थासु जाग्रदादिषु स्वस्वरूपोपलब्धेति तस्यानावृतज्ञानत्वान्न बद्धत्वमपि तु नित्यसुप्रबुद्धत्वमेव। एता मातृका एव पीठरूपाः पीठेश्वर्यः।

शक्तिरेव सृष्टिक्रमप्रवर्तिका। चन्द्रिकावत् शिवशक्त्योः स्वरूपमयुतसिद्धं यामलभावापन्नं प्रकाशविमर्शात्मकमहन्तेदन्तारूपं ज्ञानक्रियात्मकं क्रमाक्रमरूपं स्वीकुरुते। क्रमतैव कालतत्त्वम्। कालाधीनं हि जगदिति सर्वोऽपि पदार्थः क्रमाक्रमतयैव भासते। स्वातन्त्र्यस्य महिम्ना कालीतत्त्वं विमर्शात्मकं क्रमाक्रमाभ्यां विश्वस्मिन् विजृम्भते। तद्धि स्वरूपेऽक्रममेव, विश्वापेक्षया तस्मिन् क्रमाक्रमत्वं समुल्लसति।[1] परनादरूपायाश्चिच्छक्तेः सकाशात् करणचक्रस्याधिष्ठाताऽहङ्काररूपो गणेशः सृष्टिकर्ता जन्यते। सामरस्यमापन्ना शक्तिश्चिदानन्दघना स्वरूपविश्रान्ता "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इति श्रुत्युक्त्या सद्रूपतयाऽवतिष्ठते। "एकाकी न रमते स द्वितीयमैक्षत्" इति श्रुत्यनुसारं प्राण्यदृष्टवशात् स्वातन्त्र्यशक्तिविस्फारादन्तःस्थितं विश्वं बहिरुल्लिलासयितुं प्रवृत्ता स्वाभिन्नप्रथमस्पन्दरूपा इच्छाशक्तिः, तज्जन्याहङ्कारो जगत्सर्जकः। अहङ्कार एव

---

१. क्षीरोदं पौर्णमासीशशधर इव यः प्रस्फुरन्निस्तरङ्गं
चिद्व्योम स्फारनादं रुचिविसरलसद्बिन्दुवक्रोर्मिमालम्।
आद्यस्पन्दस्वरूपः प्रथयति सकृदोङ्कारशुण्डः क्रियादृग्
दन्त्यास्योऽयं हठाद् वः शमयतु दुरितं शक्तिजन्मा गणेशः॥ (चि० च० १।१)

पुराणादौ दर्शनेषु च मनो मतिर्महान् ब्रह्मेत्यादिना स्मर्यते। स च ज्ञानक्रियाशक्तिसम्पन्नः, एतच्छक्तिद्वयाभावे स्रष्टृत्वस्यैवासंभवात्। शक्तिजन्येन ॐकारेण शब्दार्थयोः सृष्टिः। ॐकारस्य सर्वकारणता श्रुत्युपनिषत्पुराणागमादिसम्मतैव। सोऽपि कार्यस्य कारणजातीयत्वाज्ज्ञानक्रियासम्पन्न एव। अहङ्काररूपस्य गणेशस्य चिद्व्योम्नि ॐकारसमुत्पादक्रमेण शब्दार्थोभयात्मजगत्सर्जनमेव चिद्व्योम्नो निस्तरङ्गस्य समुच्छलयितृत्वं विविधशब्दोत्पादनेन च स्फारनादत्वसंपादकत्वमिति।

अत्रापि शिवशक्त्योरविनाभावः सम्बन्धः। शिवः प्रकाशस्वरूपः, शक्तिश्च विमर्शरूपा, शक्तिरहितस्य शिवस्य जडप्रायत्वात्। अत एव शक्तेरैश्वर्यमत्र वर्ण्यते। यद्यपि शिवोऽपि शक्तेः साहचर्येण वर्णितः, किन्तु शिवस्य शक्तिहीनत्वेऽकिञ्चित्करत्वात् शक्तेरेव प्राधान्यम्।

[1]स्थूलसूक्ष्मपररूपतया त्रिधा भिन्ना सा। जगतः स्फुरणं शक्त्यभिन्नशिवप्रकाशसम्बन्धेनैव। लोकेऽपि सर्वो व्यवहारो ज्ञानपूर्वकोऽहमित्यनुसन्धानपूर्वक एव लक्ष्यते। श्रुतिरपि—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। शास्त्रानुमानादिप्रमाणेन स्वप्रकाशस्वरूपा विश्वोत्तीर्णा शिवसत्ता स्फुरतीति स्फुटमभिलक्ष्यते। "शिव एव गृहीतपशुभावः" इति परमार्थसारोक्त्या शिवः स्वेच्छयात्मानं संकोच्य जीवरूपेण भासते। यावत्कालं शिवः स्वानुग्रहशक्त्या जीवं न पश्येत्, तावत्कालं संकोचरूपं तमोऽपसृतं न भवेत्। अतः क्रममार्गोक्तकल्याणपथस्य आलोकनाय ईश आराधनीयतया निर्दिष्टः।

[2]प्रकाशविच्छुरितात्मशरीरः शिवः, अहमिति स्वरसोदिता विमर्शात्मिका परावाग्रूपा शक्तिः। एतौ मिथः समुदितौ षडध्वरूपं वाच्यवाचकरूपं जगन्निर्मिमाते। षडध्वानश्च कलातत्त्वभुवनानि वाच्यरूपाणि, वर्णपदमन्त्राश्च वाचकरूपाः। तत्र विमर्शांशेन वाच्याध्वनः समुत्पत्तिः, प्रकाशांशेन तु वाचकाध्वनो वर्णादित्रयस्य। षडध्वसु शिवशक्त्योरुभयोरपि जनकत्वोक्त्या द्वयोः कर्तृत्वं स्फुटम्। कर्ता च "स्वतन्त्रः कर्ता" इति पाणिनिपरिभाषित एवेह गृह्यते। स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्वं वपुः षोढा विभज्य कर्तृकर्मकरणादिव्यपदेशं भजन् करणतया स्वशक्तिमेव कलारूपां नियोज्य विश्वरूपतया भासते। कला च निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्याशान्तिशान्त्यतीतभेदात् पञ्चधा। यथा भुवनेष्वनुगामि किञ्चिद्रूपं तत्त्वम्, तथा तत्त्वेषु वर्गशोऽनुगामि रूपं यत् तत् कला,

---

१. स्थूलं सूक्ष्मं परं च त्रिविधमिह जगद् यत्प्रथावेशसिद्ध्या
युक्तं सत्ता यदीया स्फुरति च परतः स्वप्रथैकस्वभावा।
भामूर्तिर्य विमर्शक्रियमनुपतिता लक्ष्यते लोकवृत्तिः
सन्मार्गालोकनाथ व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥ (चि० च० १।२)

२. याऽहमित्युदितवाक् परा च सा यः प्रकाशलुलितात्मविग्रहः।
यौ मिथः समुदिताविहोन्मुखौ तौ षडध्वपितरौ श्रये शिवौ॥ (चि० च० १।६)

एकरूपकलनायाः सहिष्णुत्वात्। षट्त्रिंशत्तत्त्वानि पञ्चकलासु विभक्तानि, तद्यथा—यतस्तत्त्वसर्गो निवर्तते सा निवृत्तिः कला पृथिव्याम्। जलादिप्रकृत्यन्ते वर्गे त्रयोविंशतौ तत्त्वेषु प्रतिष्ठा पुरुषादिमायान्तेषु सप्तसु तत्त्वेषु विद्या। शुद्धविद्यादिशक्त्यन्तेषु चतुर्षु तत्त्वेषु शान्ता शान्तिर्वा। शिवतत्त्वे शान्तातीता शान्त्यतीता वा कला। परमशिवरूपं तु कलातीतं निष्कलम्। यतः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मके विश्वस्मिन् सर्वत्रापि कलाऽनुस्यूता, अत एव कला शक्तिपर्याया, शक्तिदशायां सर्वत्र कलनस्य व्याप्तत्वात्। तदुक्तं मार्कण्डेयपुराणे—

"कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी" इति।

कालीतत्त्वं श्रुत्युक्तब्रह्मतुल्यम्, अतः 'कल्पनातिगमतीन्द्रियं बाह्यप्रपञ्चसम्बन्धशून्यं भावाभावयोर्मध्यवर्ति सद्रूपं निराकृति च। स्वस्वातन्त्र्यमजहदेव तत्तदात्मना स्फुरतीति हेतोस्तद्धामापि ॐ तत्सदिति श्रुत्या सत्यत्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मवदेव। स्वस्वरूपे स्थिता कालीशक्तिः सर्वथाऽपरिच्छिन्ना क्रमरहिता, तथापि लोकानां जन्मस्थितिहेतुतया जगद्रूपतया स्फुरितं तस्या रूपं सक्रममेव। प्रकाशस्वरूपाद् बहिर्विजृम्भणमेव तस्याः कलना। अन्तःस्थितस्य विश्वस्येच्छामात्रेण बहिरुल्लासनमेव च विजृम्भणम्। अत्रार्थे प्रत्यभिज्ञासूत्रशक्तिसूत्रे संवदतः—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥ इति,
"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" इति च।

कालिकारूपाया जगज्जनन्या वपू रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं विशुद्धसत्त्वात्मकम्। ततो गुणत्रयमभिव्यज्यते। अतो भूतभौतिककारणीभूतं तत्त्रयं शक्तिजमपि ततो भिन्नमेव। भगवतो विष्णोर्विग्रहवत्त्वं तथैवेत्युक्तं भागवते—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः" इति,
(४।३२।३३)

"सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः॥" इति च :
(१० पू०।२।३४)

ईश्वरनिष्ठं यदक्षयमैश्वर्यं यच्च तस्य विशुद्धं विज्ञानं पञ्चकृत्यकारित्वं च तत्सर्वं विरागप्रचुरायाः पूर्णात्मिकायाः शक्तेरेव बलम्, चिद्रूपस्य शिवस्य शक्तिसम्बन्धं विना तथात्वानुपपत्तेः।

---

१. कल्पनातिगमतीन्द्रियं च यल्लक्ष्यमुज्झति बहिर्मुखं च यत्।
अन्तरालगमभावभावयोस्तन्नतोऽस्मि सदहं निराकृति॥ १३॥
अम्ब यद् भवति तत्तदात्मना स्वैरितामजहदद्वयोदयम्।
तावकं पदमपाकृतक्रमं ब्रह्म तत्सदिति वा श्रुतं भजे॥ १४॥

सृष्टौ तमसो बाहुल्यमपेक्षितम्। पूर्वं विशुद्धसत्त्वात्मकमेव तस्या रूपमुक्तमधुना सत्त्वतमसोः शक्तिवपुष्ट्वमाह—भक्तानां हृदि भगवत्याः स्वरूपे ध्याते शुद्धविद्यया दृष्टं यल्लघु विसृत्वरं ज्योतिस्तादृशं सत्त्वम्, तस्माज्ज्योतिषो निर्गतं धूमाकारं गौरवयुक्तं च तमः, ते पूर्वोक्ते सत्त्वतमसी तस्या वपुः स्तः। सिसृक्षोः संजिहीर्षोश्च शिवस्य संकल्पमनुसृत्य सृष्टिसंहारयोर्व्याप्रियमाणा शक्तिर्जायमानं जगदवलोक्य सप्रकाशं तत् स्वात्मनि मज्जयन्ती प्रकाशपूर्णतया पूर्णिमा भवति। स्वात्मनि पूर्णं च तद्रूपं बहिः कुर्वती सप्रकाशजगद्रहितत्वेन सादृश्येन सा कुहूरुच्यते। तथा च कोषः—"सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः" इति। यथा सांख्ययोगपथयोः परस्परं भिन्नयोरपि आचार्यद्वयं समाधावेकमतं लक्ष्यते। उभयत्रापि समाधौ योगी सप्रकाशं जगत्स्वात्मनि प्रविलापयन् पूर्णः, व्युत्थाने च तद् बहिः कुर्वन् रिक्तो भवति, तथा सृष्टिसंहारयोः पूर्णतारिक्तते कुर्वती शक्तिरपीति साम्यम्।

'कालीशक्तिः स्वरूपस्थितौ कालमपि भक्षयित्वाऽक्रमतयाऽवतिष्ठते। सर्गे तु क्रमावच्छेदकः कालो विजृम्भत एव। पूर्णत्वकृशत्वापरपर्यायसर्गप्रलययोर्यदन्तरं स सन्धिकालः। तत्र स्रक्ष्यमाणप्रलेष्यमाणवस्तुषु कालकलना न भवति। तादृशवस्तुषु तदा कालक्रमं दिदर्शयिषन्तं ब्रह्मणो दिवसस्याद्यतनं कालं कालीशक्तिरत्तुमीहते। एत-

---

देशकालकलना विशेषतो यद् भवानि! विहितं निगद्यते।
व्यक्तिजातितनु संश्रितक्रमं तद्धितं तव बहिर्विजृम्भणम्॥ १५॥

सत्त्वमम्ब विहितस्य वस्तुनस्तत्प्रसादितदयोदयं वपुः।
स्यात्तमश्च यदिदं निषिध्यते द्वे रजो सदसदन्यरूपतः॥ १६॥

यत्तमोऽन्यदिह तत्क्षितेर्वपुः सत्त्वमन्यदिह तेजसः शिवे।
मिश्रणोत्थमितरद्रजस्तयोस्त्वत्कसत्त्वजमतो गुणत्रयम्॥ १७॥

ईश्वरस्य तव भर्तुरक्षयैश्वर्यरूपमसि तत्त्वमम्बिके।
ज्ञानमस्य शुचिकर्म वा फलं ते विरागमयपूर्णता फले॥ १८॥

ज्योतिरम्ब हृदि विद्ययेक्षितं यल्लघु प्रसृतमर्धमण्डपे।
धूमलक्ष्म गुरु यच्च तच्च्युतं ते तु सत्त्वतमसी वपुस्तव॥ १९॥

त्वं हि रुद्रजकटाक्षवर्तिनी जायमानमवलोक्य चण्डिके।
सांख्ययोगपथदेशिकद्वयं जातसंमतिसमाधिकं यथा॥ २०॥

सप्रकाशकृतमज्जनं जगत्कुर्वती भवसि पूर्णिमा शिवे।
पूर्णमेव तव रूपमन्यथाकुर्वती किल कुहूः प्रतीयसे॥ २१॥

१. पूर्णताकृशतयोर्यदन्तरं तत्र कालि विजहत्क्रमे स्थिता।
दर्शितक्रमविभागसंभ्रमं कालमद्यतनमत्तुमीहसे॥ २२॥

देव शक्तिगतमत्तृत्वं ब्रह्मण्यारोप्य "अत्ता चराचरग्रहणात्" इति व्याससूत्रं प्रवर्तते। अभिनवगुप्तेनापि तन्त्रालोकषष्ठाह्निके—

क्रमाक्रमात्मा कालश्च परः संविदि वर्तते।
कालीनाम पराशक्तिः सैव देवस्य गीयते॥

इति शक्तेरेव कालाधिष्ठातृत्वं प्रविभावितम्। ब्रह्म अपि स्वां संविद्रूपां शक्तिमधिष्ठाय सर्वमदनीयं भोग्यं जगत्स्वात्मसात्करोतीति हेतोस्तदत्तृत्वं सुसंगच्छत एव।

[1]मातृमेयमितिमानात्मिका सर्वाऽपि विकल्पबुद्धिश्चितिशक्तिकृतैव। तां धियं शक्तिर्मातृमेयादिसमारोपेण कलुषयन्ती उन्मिषति। चितिशक्तिस्वरूपं तु विकल्पातीतं निर्विकल्पात्मकम्। "सर्वो विकल्पः संसारः" इत्यभियुक्तोक्त्या "मातृमेयमितिलक्षणं कुलम्" इति रीत्या कुलस्य विश्वात्मकतया विश्वोत्तीर्णस्वरूपायाः शक्तेर्महत्त्वं द्योत्यते। तया विकल्पधियाऽकलङ्कितं चितिशक्तिस्वरूपं स्वात्मत्वेन ज्ञातवतः पुरुषस्य मोक्षः, तद्विपरीतस्य तु बन्ध इति। यद्यपि सर्वत्रापि ज्ञाने मातृमेयमितीति त्रिपुट्येव भासते, न तु प्रमाणम्, तथापि विकल्पधियि चतुष्ठावस्थितिं द्योतयितुं तथात्वोक्तिः।

[2]इदानीं शक्तेः क्रमाक्रमरूपतामधिकृत्य वर्णयति। क्रमवत्त्वात् क्रमः सर्गः। क्रमसंहारवत्त्वाच्चाक्रमः प्रलयः। तौ च दृष्टिसृष्टिवादानुसारं विमर्शात्मकौ। तयोश्चाधिष्ठानत्वात् पराप्रकृतिः शक्तिः क्रमाक्रममयी। तस्याश्च शिवोपाधिकतया तन्मध्यगः शिवः, यथा घटादिमध्यगमाकाशम्। तं च निमित्तकारणत्वेनावेक्ष्य (आश्रित्य) स्वयमुपादानकारणरूपा शक्तिः कालभेदेन क्रममक्रमं च सृजति (तत्तद्रूपतया भासते), तां च शक्तिं निमित्तत्वेनावेक्ष्य तस्या आननं स्वानुरूपकार्यकरणायेतरगुणानभिभूय प्राधान्येनोद्रिक्तं गुणरूपं कर्तृ इदं मातृमेयमितिमानरूपैः सदवस्थितं कुलं विश्वं सृजति। अत्राननशब्दस्योद्रिक्ते गुणे प्राधान्येन आननत्वोपचारात् प्रयोगः।

[3]शिवतत्त्वमेव संविद्रूपमेकं वेदकम्। तस्यैव तु अनादिभावरूपया मायया (शक्त्या) विवर्तभूतानि कल्पितानि वेद्यानि। एवं वेद्यवेदकयोर्वस्तुगत्या ऐक्यमिति वेद्यवेदकविभेदकल्पनादक्षया मायया देशकालगतक्रमभेदेन क्रमवत्कार्यकरणसंघातोपहितत्वेन सर्वगस्यापि शिवस्य याऽणुता जीवे स्थिता, या चान्यानपेक्षसर्वावभासकस्यापि शिवस्याणुभावे बहिरर्थप्रकाशने चक्षुरादीन्द्रियसापेक्षाणुता तत्र स्थिता,

---

१. मातृमेयमितिसाधनात्मिका त्वत्कृतोन्मिषति या विकल्पधीः।
त्वत्स्वरूपमकलङ्कितं तया कस्य देवि विदुषो न मुक्तता॥ २३॥

२. अक्रमक्रमविमर्शलक्षणं या क्रमाक्रममयी क्रमाक्रमम्।
अक्रमं शिवमवेक्ष्य मध्यगं त्वां च सत्कुलमिदं तवाननम्॥ २४॥

३. वेद्यवेदकविभेददक्षया मायया क्रमवदङ्गगामिनी।
या स्थिताम्ब बहिरक्षकाङ्क्षिणी तां जहि त्वमणुतां मयि स्थिताम्॥ २५॥

तामुभयविधामप्यणुतां सर्वगचितिशक्तिरूपाभेदाविर्भावनया शक्तिरेव हन्तुं समर्था। अतः शक्तिं द्वारीकृत्यैवात्मस्वरूपलाभस्यानिवार्यतया शक्तिसपर्यावश्यकी। तदुक्तं प्रत्यभिज्ञाकारिकायाम्—

किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥ (१ । ३) इति।

यश्चायं मोहस्तदपसारणं च यत्, तदुभयमपि शक्तिमतः शिवस्य विजृम्भामात्रम्, न तु अधिकं किञ्चित्। विजृम्भा तु कालीशक्तेराख्येति पूर्वमेवोक्तम्।

[1]मायाशक्त्या सर्वगोऽप्यात्माऽणुत्वं नीयते। स चाणुर्विविधवासनाभिः प्राक्तनाभिर्धर्माधर्मादिकार्याणि कुरुते। तद्धि वासनात्मकं कर्म। माया च व्योमवामेश्वरी-खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीरूपाभिर्वृत्तिभिः शाक्ताभिर्विलाप्यते, यथा भानुरश्मिभिस्तमो नाश्यते।

[2]मायिकस्य कर्मणो विलापकत्वं शक्तेरेव, अतो वाममार्गपदव्यपदेश्यया कुलप्रक्रियोक्ताराधनया सर्वमपि कर्म चिन्मयतामापाद्यते। शिवशक्त्योः सामरस्यैकात्म्यतया सर्वोऽपि द्वैतव्यवहारः शक्त्या स्वस्मिन् प्रविलाप्य तया जगद्भक्षणात्मकेन चिन्मयेन वपुषा स्थीयते।

[3]स्थूलसूक्ष्मपररूपभेदत्रैविध्यमास्थाय शक्तिरेकाऽपि त्रिरूपतयाऽवभासमाना स्थूलविग्रहरूपेण दशमहाविद्यादिवपुषा सूक्ष्मविग्रहात्मना चिदाकाशाक्रमताशीलतया अतीन्द्रियवाङ्मनसमात्रगोचरतया परामृश्यते। परात्मना च वाङ्मनसयोरप्यगोचरतया परमोर्ध्वगेऽण्डचतुष्टयादप्यूर्ध्वगे पथि कार्यकारणभावातीते सामरस्यात्मकेऽनुभूयते योगिभिः।

[4]"अकचटतपयाद्यैः सप्तभिर्वर्णवर्गैर्विरचितमुखबाहापादमध्याख्यहृत्का" इति प्रपञ्चसारोक्तरीत्या अकारादियकारान्तवर्गसप्तकविरचितविग्रहा वाणीशक्तिः समस्तं वाङ्मयं सप्तधा वमन्ती वान्तया तया शब्दार्थोभयरूपया वाचा स्वाश्रितान् स्वभक्तान् परं व्योमात्मकं शिवं शान्तमुखं प्रापयति, न त्वपरं शिवम्। स्वयं तु साऽद्वयपदातिलङ्घिनी द्वैताद्वैतविवर्जिता।

---

१. कर्म यद् विविधवासनात्मकं मायया सह कृताणुभावया।
वृत्तिभिस्तव विलाप्यते हि तद् देवि भानुरुचिभिर्यथा तमः ॥ २६ ॥

२. चिन्मयीकृतमतोऽब्दश्यया गुह्ययाऽम्ब विपरीतचर्यया।
लभ्यते समरसीकृताखिलद्वैतवृत्ति तव घस्मरं वपुः ॥ २७ ॥

३. याश्चरन्ति तव खे चिदात्मके शक्तयः करणलक्षणाः शिवे।
मुक्तवाह्यपदजृम्भणोद्यमाः त्वं हि तिष्ठसि तदूर्ध्वगे पथि ॥ २८ ॥

४. सप्तधा वमसि या त्वमीश्वरि व्योमशान्तमुखचिद्गुणास्पदम्।
आश्रितान्नयसि नापरं शिवं द्वन्द्वयाद्वयपदातिलङ्घिनी ॥ २९ ॥

प्रत्यगात्मनि परप्रमातरि स्थिता परावाग्रूपा कालीशक्तिः परापश्यन्तीमध्यमारूपैस्त्रिभिर्भावैरभिधीयते, तर्हि चतुर्थ्या वैखर्यास्तदभिधेयत्वे किमुत वक्तव्यम्। एतेन परशक्तिरूपायाः कालिकायाः सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वाच्च सर्वशब्दाभिधेयत्वं सुस्थिरम्।

ज्योतीरूपपरशिवसन्निधानाच्चिन्मात्रा शक्तिरूपा प्रकृतिर्विकृता घनीभूता विन्दुः। विन्दोश्च विन्दुनादबीजभेदेन कालभेदेन अवस्थाभेदेन च रूपत्रयम्। तत्र विन्दुरीश्वरः, नादश्चिन्मात्रशक्तेश्चिन्मिश्रं रूपं पुरुषाख्यम्, बीजमचिदंशो भूतवर्गः। एते नादविन्दुबीजाश्चिद्रूपविमर्शशक्तेरुद्भूता इति विमर्शशक्तिसागरशीकरतुल्याः क्रमेण स्थितिसंहृतिसृष्टिधामसु स्थिताः। नादस्य जीवरूपस्य ज्ञानात्मकस्य शब्दरूपतायां न संदेहः, "वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते" इति वाक्यपदीयोक्तेः। मातृकाभ्यो वर्णरूपाभ्यो भूतानामुत्पत्त्या प्रत्येकं भूतेषु विभिन्नप्रकारकशब्दानां सत्तानुभूतिस्तु सर्वसंमतैव। शारदातिलकतन्त्रानुसारं यद्यपि सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात् शक्तिस्ततो नादो नादाद् विन्दुः परशक्तिमयस्तस्माद् विन्दुनादबीजा इति क्रमः, तथापि कार्यरूपनादविन्दुबीजेषूभयग्रन्थयोर्मतैक्यदर्शनेन कारणरूपे नात्र ग्रन्थे विचार इति न कापि विप्रतिपत्तिः। (३१)

यथा बाह्याकाशे शशिमण्डलभानुमण्डलयोर्मध्यगोऽनलश्चरति, तथाऽध्यात्ममपि चिदाकाशे दृक्शक्तिरूपशशिमण्डलव्याप्ताया इडायाः क्रियाशक्तिरूपभानुमण्डलव्याप्तायाः पिङ्गलायाश्च मध्ये सुषुम्णान्तर्यदनलवत् सुधाम चरति तदेव शिवतत्त्वम्, तदूर्ध्वशिखरे यत्परं नभस्तत्र परमशिवः। इत्थमन्तरपि अध्यात्मं चिदाकाशे ऊर्ध्वाधरभावेन भागद्वयमस्तीत्युपलभ्यते। शरीरे नाडीत्रयस्य सत्तोपवर्णनं तन्त्रचूडामणौ—

मेरोर्वामे स्थिता नाडी इडा चन्द्रामृता शिवे।
दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥
तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता। इति।

प्रथमचिदाकाशस्योर्ध्वभागे वह्निसंयुक्तसुषुम्णानाड्याः शिरोभागे द्वितीयस्मिन् परनभसि परमशिववसतौ परमशिवेन योगोऽपि कालीसंज्ञकपरशक्तिसहकारसाध्य एव, नान्यथा। (३२)

कालीशक्तेः परापरभेदेन रूपद्वैविध्यं कालिदासेन चिद्गगनचन्द्रिकायामुद्भावितम्। तत्र पररूपं परमशिवसामरस्यापन्नमविकारि अव्यवहार्यं वाङ्मनसागोचरमतद्व्यावृत्त्या श्रुतिप्रतिपाद्यमिदं तदिति व्यपदेशशून्यम्। अपरं तु शब्दार्थोभयात्मके जगति वैखरीमध्यमापश्यन्तीरूपशब्दात्मकं मेयमानमितिमातृरूपमर्थलक्षणं सृष्टिस्थितिलयात्मकतयाऽर्थानामवस्थारूपं नानाभेदपरिपूर्णम्। (३३)

शक्तेरुदयप्रशमाभ्यामीश्वरस्यापि वपुर्द्वयम्। शक्तेरुदयेन विश्वमूर्तिं सविशेषमित्येकम्। शक्तेः प्रशान्त्या चाज्ञातस्वरूपं निर्विशेषं द्वितीयम्। तत्राद्यविग्रहमुदयात्मकं निमित्तीकृत्य पञ्चवाहापरपर्याया पञ्चप्राणरूपा आद्या सृष्टिः प्रक्रमते। (३४)

पराशक्तावेव सर्वं जगत् पयोधौ वीचिवद् वर्तते। कालीरूपा पराशक्तिरेवापरशक्तेरुपादानकारणम्। परस्या विकृतिरूपाऽपराशक्तिर्यया वर्णमातृकाभिरवयवभूतैरारब्धं भूतसूक्ष्ममर्थपञ्चकं तन्मात्रव्यपदेश्यम्। ततश्च महाभूतोत्पादक्रमेण विविधसूक्ष्मस्थूलभूतभौतिकसृष्टयः प्रसरन्ति। शरीरेऽद्वयतत्त्वोपलब्ध्याधाराद् मूलाधारचक्राद् विश्वमूलोऽर्थावभासकश्च स्वर उदयते। स एवाकाररूपः स्वरो दुर्भेदमनाहतचक्रं प्राप्य विषयरूपेण बोधरूपेण शब्दार्थोभयरूपेणोपलभ्यते। अनाहतचक्रादेव हकाररूपायाः शक्तेरपि विमर्शो भवति। यथा देहे सबाह्याभ्यन्तरं सर्वत्रैवौतप्रोतरूपः प्राणः, तथाप्यसौ हृदयादेव स्फुटतया संवेद्यः, तथैवाकारोऽपि—"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इत्युक्त्या सर्ववर्णाग्रजन्मा सर्वलयस्थानं हृदयादेव स्फुटीभवति, संवेद्यश्च। (३५)

सा कालीशक्तिः सकलशब्दमयी, शब्दोऽप्याहताऽनाहतभेदेन द्विधा। स्थानकरणप्रयत्नजन्योऽत एवाहताख्यो वैखरः श्रोत्रेण स्फुटं गृह्यमाणः शब्दोऽपि शक्तिकारणक एव। द्वितीयोऽपि प्राक्तनशब्दानुभवजन्यवासनावासितो मानसः शक्तिकारणक एव। (३८)

अनुस्वारविसर्गौ षष्ठस्वरांश्च हित्वा सूर्यकलारूपांश्च ह्रस्ववर्णान् विहाय सर्वेऽवशिष्टा वर्णाः स्वरव्यञ्जनरूपाः शशिनः कलाः सन्ति। एते वर्णाः क्रियाशक्तिनिर्माणकारणानि। क्रियाशक्तिश्च पारमेश्वरी शक्तिरेव, न ततो न्यूना भिन्ना वा। विन्दोः प्रकाशमात्रसारत्वेन विसर्गस्य विमर्शरूपत्वेन षण्ढस्वराणामानन्दरूपतया स्वविश्रान्तत्वेन नैषां क्रियाशक्तिनिर्मितावुपयोगः। (४०, ४१)

शक्तिर्बीजरूपा परावाग्रूपा चेति पूर्वं सुबहुश उक्तम्। अस्याः शक्तेर्नाद एवेष्टतनुः। स च बुद्ध्या लक्ष्यते न तु श्रोत्रेण। बिन्दुश्च अक्षरात्मकोऽर्थात्मकश्च। अतः स कारणत्वेन शब्दार्थरूपं जगन्नियमयति। तौ संकलय्य पराशक्तिर्नादबिन्दुपरारूपत्वेन त्रिधा भासते। बिन्दुनादबीजानां पूर्वपूर्वं प्रति उत्तरोत्तरस्य कारणत्वम्, पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरस्य सूक्ष्मत्वं चेति ध्येयम्। (४२)

निस्तरङ्गशिवचित्पयोनिधेराद्यः स्पन्द इच्छाशक्तिरूपः प्रथम ऊर्मिः, द्वितीयस्तु ज्ञानशक्तिरूपः क्रियाशक्तेः प्राग् जायमानः, क्रियाशक्तिरूपस्तु तृतीयोऽचिद्विश्वस्य कारणम्। एतदूर्मित्रयं शिवसमवायिन्याः पराशक्तेरेव वपुः, न तु शिवस्य निस्पन्दस्य निर्विकारस्य। इच्छाज्ञानक्रियाशक्तीनां विस्ताररूप एव सर्वोऽपि वाग्विलासः। तदुक्तं महार्थमञ्जर्याम्—

वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक्।
इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा सर्वासां समरसा वृत्तिः ॥ ५० ॥ इति।

सा इच्छाशक्तिरेव प्रवृद्धा सती खेचरत्वंसमुपाश्रिता खेचरी, दिशि स्फारिता दिक्चरी, अन्तःकरणरूपा गोषु इन्द्रियेषु संप्राप्ता गोचरी, भावेषु प्राप्ता भूचरी,

नानात्मानमाविर्भाव्य स्वं पारमार्थिकं रूपमाभासयति । सैवेच्छाशक्तिः पशुभूमिकायां स्वं पारमार्थिकं रूपं संगोप्य तत्तच्चक्रनाम्ना पशून् व्यामोहयति । पतिभूमिकायां सेच्छाशक्तिः सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञातृत्व-नित्यत्व-पूर्णत्व-व्यापकत्वरूपाभिः शक्तिभिः संपन्ना खे बोधगगने चरतीत्यन्वर्थनाम बिभ्रती खेचरीत्वेन, अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन, स्वाङ्गकल्पतया भावजातं पश्यन्ती भूचरीत्वेन स्फुरति । इदं खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयं सांशं शिवतत्त्वाद् बहिर्भूतम्, निरंशं शक्तितत्त्वं तु द्वैताद्वैतविभागशून्यं शिवसामरस्यापन्नं चितिरूपम् । शिवादबहिर्भूतं तन्न वाग्व्यवहारविषयीभूतम् । (४३–४५)

चिद्रूपं शिवतत्त्वमकुलम्, ततो निर्गता चिद्रूपा शक्तिस्तु वामेश्वर्यादिभूचर्यन्तपञ्चशक्तितनुत्वेन संपूर्णं विश्वं (देहं) प्रकर्षेण भासयति । विश्वावभासनकार्याद् विरता सा पुनः शिवेऽकुले विलीना भवति ।

तस्याः शक्तेर्वामेश्वर्यादिवृत्तिपञ्चकं युक्तितः पञ्चभूतगुणवृत्तिः प्रतीयते । तदेव वृत्तिपञ्चकं धर्मिगतं सिद्धपञ्चकस्य ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवरूपस्य सिद्धिरूपतया भासते । धर्मगतं च वृत्तिपञ्चकं शक्तिपञ्चकनाम्नाऽभिधीयते । सिद्धपञ्चकस्य शक्तिपञ्चकं भारती-विश्वम्भरा-रौद्री-ईश्वरी-सदाशिवारूपं योगिनीहृदयदीपिकायां प्रसिद्धम् । (४७)

उन्मनीमवस्थां सिद्धपञ्चकं शक्तिपञ्चकमित्येकादशविधशक्त्याकृतिं भजमानः साधकः सिद्धमार्गो श्रेष्ठो गण्यते ।

चिदचिद्रूपेण विश्वं द्विविधम् । सोऽयं द्विविधोऽप्यर्थो धर्मिधर्मपदेन व्यपदिश्यते । धर्मिरूपं तत् सिद्धपञ्चकप्रकाश्यमानं चिद्रूपम् । धर्मरूपं तदचिद्रूपं शक्तिपञ्चकप्रकाश्यम् । वस्तुगत्या पराशक्तिरेवोभयरूपिणी, तया प्रकाश्यमानोऽर्थस्तत्तदाकृतीरुपगच्छन् चिद्रूपेश्वरे दर्पणप्रख्ये सृज्यते । एतेन प्रकाशातिरिक्तं वस्तुरूपं नात्र स्वीक्रियते । (४९)

इदं जगद् बुद्धिदर्पणे वासनारूपेण स्थितं सार्वकालिकमेव । तद्धि परादिवाग्रूपया शक्त्या भास्यते, शब्दस्य परोक्षापरोक्षसार्वकालिकवस्तुनो वासनारूपेण बुद्धौ स्थितस्य परोक्षरूपेणैव बोधकत्वात् । अतीतानागतमपि वस्तु वासनात्मना बुद्धिस्थं शब्देनैव चतुर्विधेन बोध्यते, नान्यथा । बाह्यं वर्तमानतयाऽवगतं तु इन्द्रियरूपया शक्त्याऽवभास्यते ।

विमर्शात्मिका सा कालीशक्तिः स्वप्रकाशचिद्रूपा । अतो विषयरूपतायास्तत्राभावात् चित्तता न । ननु प्रलये चित्तताऽभावेऽपि सर्गे कुतो नेति चेत् ? स्वरूपतस्तस्याश्चित्त्वेन विषयसम्बन्धकृता चित्तगोचरता विषयाणां सम्बन्धादेव, न तु स्वतः । (५०)

जगदिदं स्वभावतो जडमेव, यत इदं परापश्यन्तीमध्यमावैखरीभेदेन भाति । शक्तिस्तु सदा प्रकाशरूपत्वाद् जाड्यपरिपन्थिनी । जगति नामरूपे भासेते, किन्तु

नामरूपयोर्जडतया तयोर्भासकत्वं शक्तेरेव। अतस्तौ भास्यौ, भासिका तु चिद्रूपा कालिकैव। प्रकाशात्मनः शिवस्याभिन्ना शक्तिरपि भात्मिकैव प्रकाशत्वेन रूपेण प्रकाशत इति जाड्यपरिपन्थित्वं तस्या युक्तमेव। किञ्च, जगतः स्वरूपेण निर्निरुक्तिकत्वेऽपि कारणात्मना सत्त्वेन निर्वाच्यता जडता भारूपताऽपि प्रतिष्ठितैव, प्रलयकाले सर्वस्यापि जगतः शक्तौ लयेन शक्त्यात्मना जगदवस्थितेः। (५७-५८)

शिवस्य प्रमातृत्वं द्रष्टृत्वं ग्राहकत्वं च शक्तिकृतमेव

प्रमातृसप्तके शिवोऽपि प्रथमप्रमातृत्वेन स्मर्यते। किन्तु वस्तुगत्या विचारणायां शिवे यत्पञ्चकृत्यकारित्वं सर्वकर्तृत्वादिपञ्चशक्तिसमवेतत्वम् इच्छादिशक्तित्रितया-वियुक्तत्वं च तत्सर्वं शक्तिकृतमेव। शक्तिरेव जगतः कर्त्री। तत्कर्तृत्वं शिवे समारोप्य शिवस्य प्रमातृतादिव्यवहारः संगच्छते। शक्त्यनुग्रहं विना शिवस्य ब्रह्मविष्णवादीनां केषाञ्चिदपि शक्तिमतां तत्तत्कार्यकर्तृत्वं कथमपि क्षणमपि न घटेतेति सर्वस्यापि बाह्याभ्यन्तरप्रमातृतादिव्यवहारस्य निभालयित्री शक्तिर्विमर्शात्मिका कालीपदव्यपदेश्या सर्वतः श्रेयसी गरीयसी च। शक्तिशक्तिमतोः श्रेयस्त्वनिर्णयप्रविचारे शक्तेरेव श्रेयस्त्वगरीयस्त्वकथनं प्रामाण्यमर्हति। अत एव कालमहाकालादिपदव्यपदेशस्य शिवस्यापि स्वस्मिन् प्रविलापनरूपकलनकरणादेवेयमन्वर्था कालीमहाकालीसृष्टि-स्थितिसंहारकालीपदैरभिधीयतेऽन्तर्विद्भिस्तान्त्रिकदार्शनिकैः। यद्यपि शिवशक्त्यो-रविनाभावसम्बन्धः सुबहुश उक्तः—"न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः। तादात्म्यमनयोर्नित्यं चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥", "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्" इत्यादिप्रवचनैर्द्वयोः सदा संयुक्तत्वं सदा परस्पराश्रयित्वं सर्वस्यापि विश्वस्य शिवशक्तिमयत्वं च स्वीक्रियत एव। तथापि तयोरन्यतरप्राशस्त्यविचारे शक्तितुलैवाभ्यर्हिततरमाटीकते। अत एव मार्कण्डेयपुराणे सप्तशतीस्तोत्रस्याष्टमाध्याये देवशक्तिभिः परिवृतेनेशानेन 'असुराः शीघ्रं हन्तव्याः' इत्याज्ञप्ताऽपराजिता चण्डिका "अतस्त्वं गच्छ भगवन् पार्श्वं शुम्भनिशुम्भयोः" इत्यनुपदमेव तं दौत्याय शशास। तया देव्या स्वयं शिवो दौत्येन नियुक्तः, अत एव शिवो दूतो यस्याः सा शिवदूतीत्य-न्वर्थसंज्ञया साऽभिधीयत इत्युक्तम्।

अग्रे च चिद्गगनचन्द्रिकायां सूर्यचन्द्रवह्निकुण्डलीबिन्दुरूपैश्चक्रैर्ग्रथितामुत्तरा-धरभावे स्थितां कालकर्षिणीं रुद्रशक्तिमपि कालीशक्तित्वेनोपवर्ण्य प्रणवस्य शक्त्य-भिधायकत्वं तत्प्राप्तिस्थानत्वं च स्थिरीकृतम्। (९५) कुण्डलिन्यां चक्रपञ्चकं तिष्ठतीति पूर्वमेवोक्तम्। प्रणवाकारेऽपि मात्रापञ्चकं स्वीकृत्य कुण्डलिन्या सादृश्यं प्रतिपादितम्। शितिकण्ठप्रणीतमहानयप्रकाशस्य दशमोदयस्य चतुर्थपद्यव्याख्यानदर्शनेन कुण्डली-प्रणवयोः सारूप्यप्रतीतिः स्फुटैव, तद्यथा—"कुण्डलिन्यामावर्तपञ्चकरूपप्रणवाकारो-ल्लास एव पञ्चात्मकविश्वव्याप्त्या स्थितः" इति। अत्र विश्वस्य पञ्चात्मकत्वं भूत-पञ्चकात्मकत्वेन। तत्र कुण्डलिन्यामधःस्थितं चक्रं घोप इति, तत ऊर्ध्वं वाडव इति वह्निचक्रम्, तत ऊर्ध्वं कुण्डलिन्याः शिखा (अग्रभागः), तदुपरिस्थितं बिन्दुचक्रं

तत्पार्श्वे नादचक्रमिति। रामोत्तरतापिन्युपनिषदि प्रणवस्य षडक्षरत्वम्—"अकारः प्रथमाक्षरो भवति, उकारो द्वितीयाक्षरो भवति, मकारस्तृतीयाक्षरः, अर्धमात्रा चतुर्थाक्षरः, बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति, नादश्च षष्ठाक्षरः" इति। (९६) अग्रे च प्रणवः शक्तिविग्रह एवेत्युक्तम्। स च चिन्मयः। योगसूत्रेऽपि—"तस्य वाचकः प्रणवः" (१।२७), "तज्जपस्तदर्थभावनम्" (१।२८) इति तत्सम्बद्धो विधिरुक्तः। 'अहं स इत्यस्य जञ्जप्यमानस्य स्वरससमुद्भूते विपर्यये सोऽहमित्यकारस्य लोपोत्तरं सकारहकारयोर्लोपभावनयाऽविशिष्टे पूर्वरूपसन्धिभावनया च ओमिति रूपं स्वत एव जञ्जप्यत इति। विज्ञानभैरवटीकायाम्—"एवं शरीरं षट्चक्राधारम्, तद्रूपो यो मन्त्रः प्रणवाख्यः सोहंरूपो वा, सोऽहमित्यत्र सकारहकाररूपहलो लोपे ओमित्यवशिष्यते। यतोऽयं नाभ्यादिद्वादशान्तं यावत् पिण्डे विभक्तोऽतः पिण्डमन्त्र ओङ्कारः, सोऽहमित्यजपागर्भितो हृदयप्रदेशेऽन्वर्थं ध्वनति। यदुक्तम्—"ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम्। दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः॥" (विज्ञानभैरवटी० पृ० ३७) इति।

अत्रैव ९९ श्लोकेन जगत्सर्गहेतुः पञ्चमहाभूताकारोऽपि कालीशक्तिविग्रह एव। १०० श्लोकेन दण्डमुण्डक्रमौ प्रक्षिप्य ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियरूपताऽपि कालीशक्तेः प्रसाधिता। दण्डमुण्डक्रमौ महानयप्रकाशे—"मुण्डनं ज्ञानरूपेण दण्डनं च क्रियात्मना। मुण्डदण्डक्रमौ तेन मतौ ज्ञानक्रियात्मकौ॥" इति। एतेन चिद्गगनचन्द्रिकाकारस्य खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयी द्विविधाऽभिप्रेता लक्ष्यते। एका च प्रत्यभिज्ञाहृदयवर्णितस्वरूपा प्रागुक्तप्रकारा, अपरा च अपरशक्तिचतुष्टयीति। उभयी च वामेश्वर्या एव आविर्भूय प्रकाशतां गच्छति। तत्र चैका चतुष्टयी ज्ञानरूपेण मुण्डक्रमेणापरा च क्रियारूपेण दण्डक्रमेण विश्वकार्याणि यथायथं वहतः। प्रथमो ज्ञानशक्तिप्रसरोऽपरक्रियाशक्तिगर्भो बुद्धीन्द्रियविपरिणामेन मुण्डक्रमेण, द्वितीयश्च क्रियाशक्तिप्रसरो ज्ञानशक्तिगर्भो कर्मेन्द्रियविपरिणामेन स्वस्वविषयानात्मसात्कृत्य विलसतीति। यदा भोक्तृभोग्यकलनासंहारे सामरस्यावलम्बिनी चितिशक्तिर्भवति, तदा खेचर्यादिशक्तिचतुष्टयेन दण्डतःक्रमं वहति। यदा च भोक्तृभोग्यादिकलनायाः सृष्टिर्जायते, तदा परचतुष्टय्यां मुण्डतः क्रमं वहति। एतेन सर्गप्रलययोरुभयोरपि क्रमयोस्तस्याः पञ्चकृत्यकारित्वं सततं निरवच्छिन्नं स्फुटं व्यज्यते। मृगेन्द्रतन्त्रे प्रलये कथं कृत्यपञ्चकं किमर्थं च प्रचलतीत्याशङ्क्य—

स्वापेऽप्यास्ते बोधयन् बोधयोग्यान् रोध्यान् रुन्धन् पाचयन् कर्मिकर्म।
मायाशक्तीर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन् पश्यन् सर्वं यद्यथा वस्तुजातम्॥

इत्युत्तरितम्। शिवशक्त्योरभेदात् शिवपरकोऽयं श्लोकः शक्तिपरतयोन्नीय संघटनीयः। सा कालीशक्तिः स्थितौ वर्णविग्रहत्वं संधार्याष्टवर्गात्मिका नववर्गात्मिका वा सती क्रमं संसारचक्रं निर्वहति। प्रलये तु मन्त्रपञ्चकतनुः सती निष्क्रमतया तिष्ठति। सर्गकाले तु चक्षुरादीन्द्रियवृत्त्या शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानामुपभोगं कुर्वती वृत्तिसामरस्य-

१. महार्थमञ्जरीपरिमले, पृ० १४४

मवाप्य विलसति। विषयाभिलाषरूपं सामरस्यमुक्तं पट्चक्रनिरूपणे—"स्त्रीपुंयोगे तु यत्सौख्यं सामरस्यं प्रकीर्तितम्" (पृ० ६७) इति (१०२)। या चिन्मयी कालीशक्तिः प्रलयसुषुप्तिसमाधिषु ज्योतीरूपतयाऽनुभूयते, सैवात्र शरीरान्तर्हृद्देशरूपे चिद्गगने ज्योतीरूपतया सदोदिता दिव्यमोघमुद्गिरन्ती चक्षुरादीन्द्रियाणां सम्बन्धं त्यजति। एतेन तस्या अलौकिकसामर्थ्यवत्तया वामविग्रहत्वं लोके स्मर्यते। दिव्यौघसिद्धौघमानवौघभेदेन ज्ञानप्राप्तिमार्गस्य त्रैविध्यं तन्त्रेषु वर्ण्यते। तत्रेश्वरसदाशिवश्रीकण्ठादीनां दिव्यौघक्रमेण शैवशाक्तज्ञानं लभ्यते, दुर्वासोदत्तात्रेयपरशुरामादीनां सिद्धौघक्रमः, मानवगुरुक्रमेणान्येषामिति त्रिविधस्यापि मार्गस्य महती गुरुपरम्परा तन्त्रेषु वर्णितोपलभ्यते (१०३)। चिद्गगनादप्यूर्ध्वं महाम्बरगता तु सा शक्तिः स्वभावतो नद्या विषयसम्बन्धजनितपरिच्छेदानित्यत्वादिदोषशून्या चित्स्वरूपा भवति। तदा शिवेन सहैक्यं प्राप्य तत्त्वातीतदशामधिशेते। एकैव शक्तिः क्रमलक्षणायां स्पन्दसृष्टौ खेचरीरूपत्वं गृह्णाति, अक्रमसृष्टौ तु सा भूचरीरूपेण जृम्भते। अक्रमेण विजृम्भिता सा भूस्वर्गरूपं भुवनद्वयं विसृज्योर्ध्वाधरलोकरूपेण तत्र संचरन्ती भूचरीपदव्यपदिष्टा भवति। अक्रमसृष्टिश्च तत्र तत्रोपनिषदादिषु दर्शिता। तद्यथा—यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" इत्यादि (१०५)। सैव भूचरीशक्तिः स्फुरणात्मकं तत्तदर्थमयं स्वं वपुर्यदा क्षणात्परिवर्त्य संहारोन्मुखी भवति, तदा दिक्चरीपदव्यपदेशार्हा (१०६)। यदा तु प्रत्यगात्मनि शिवे स्वात्मानमर्पयित्वा भेदविगलनपूर्वकमैकरस्यं स्थापयति, तदा सैव दिक्चरी संहारक्रमं ग्रसित्वा महाम्बरस्यापि पारे स्थिता गोचरीनाम्ना प्रसिद्ध्यति (१०६-१०७)।

शक्तिरूपासु तद्विकारभूतासु ज्ञानेन्द्रियवृत्तिषु पञ्चसु यदि काचन वृत्तिः शश्वत् स्वतः स्फुरति, तदा अपरा अवशिष्टा वृत्तयः शीघ्रं सामरस्यं प्राप्य प्रकाशन्ते। तेन तदा स्फुरद्वृत्तिविषयातिरिक्तविषयाणामपि तयैव वृत्त्या भानात् संहारो न भवति, तेन सुरभि रक्तं चन्दनमित्यादिकं प्रत्यक्षमुपपद्यते। न तु चक्षुषा रक्तचन्दनप्रत्यक्षकाले सौरभग्रहणायालौकिकसंनिकर्षापेक्षास्ति (१०८)। खेचरीवृत्तिरेव गगनादिभूतभौतिकविश्वसर्गं करोति। दिक्चरी तु संहारवृत्तिः। सा च खेचरी सूक्ष्मा निर्निकेता सर्गकामया परया शक्त्या स्फारिता सती प्रथमतो गगनं सृजति। तदेव च स्वं निकेतनमधिष्ठाय पूर्वं नादं ततो विश्वं सृजति। सर्गकाले च संहारशक्तिं दिक्चरीमाक्रम्य तिष्ठति, येन सर्गकाले संहारस्य नावसरः समुदेति (१०९)। खेचरीशक्तिः शिवात् स्वयं क्षोभं प्राप्य बिन्दुभूमिमधिष्ठाय तिष्ठन्ती षोडशस्वरवर्णशरीरा नादविग्रहा [1]आनन्दचक्रविभवा भवति। आनन्दचक्रे प्राप्ते तस्यां धामवर्णसंवित्क्रमसर्जनसामर्थ्यं समायाति। धामवर्णसंवित्क्रमविभवा सा भूचरीति संज्ञां बिभर्ति (११०)।

---

१. आनन्द चक्रे·········संवित्क्रम इत्यानन्दचक्रव्याप्तिः।

सैव खेचरी पिण्डे ब्रह्माण्डे वा चिद्गगनाद् बहिर्निष्क्रान्ता जृम्भिता वृद्धिं प्राप्ता-ऽर्थपञ्चकं शब्दस्पर्शादिविषयपञ्चकं ग्रसन्ती बिन्दुं भासयन्ती दिक्चरी भवति। किञ्च दिक्चरीरूपमयी सा बिन्दुं प्रकृतित्वेन भूचरीमपि स्वाभेदेन निर्विभागतया रक्षन्ती समुल्लसति (१११)। सा दिक्चरी यदा पूर्वोक्तबिन्दुभासकत्वावस्थामप्यति-क्राम्यति, तदा सप्तदशप्रकारकं मूर्तिचक्रमधिरुह्य सर्वसंहारकं मूर्तिचक्रमधिरुह्य परां वाचं प्रविशति (११२)। यदा सा दिक्चरी परां प्रविशति तदा सा मङ्गलेत्युच्यते, यतस्तत्र सर्वेषाममङ्गलानां जागतिकानां बाह्याभ्यन्तराणामुपशमो जायते। सा च दशा निरालम्बाऽधिष्ठानत्वेन चिद्रूपैव। अस्यां दशायां विषयग्रहणं निरस्तं सत् स्वरूपाभेदेन भासत इति स्वकलने शक्त्या क्रियया वा चित्तस्य व्यामोहनं कृत्वा चित्पदं श्रयतीति सर्वमङ्गलप्रदा मङ्गलाभिधाना संपद्यते। सप्तशत्यां सर्वमङ्गलमाङ्गल्यस्वरूपेण तस्याः स्मरणं विशिष्टावस्थाद्योतकमेव (११३)।

तदेवं मन्त्रविद्यादिभेदप्रदर्शनपूर्वकं दशमहाविद्यास्तासां भैरवा आम्नायाः कालीप्रादुर्भावः काल्या उपासकाश्च समासेन वर्णिताः। विद्यानामाविर्भावो भक्ताना-मणूनां रक्षार्थं समभवदिति शक्तिसङ्गमोक्तकथानिर्देशेन स्पष्टीकृतः। कुण्डलिनी-शक्तिरेव काली विद्या, सैव स्वबिम्बं प्रेक्षमाणा मायात्वेन परिणता मानसिकशिवं भर्तृरूपं सृष्ट्वा तेन साकं चिरमरमत। तयोराश्लेषजन्यबिन्दुनोत्पन्ना काऽपि मानसी शक्तिः परात्पररूपा महाकालीसंज्ञया लोके प्रथिता। कालीं प्रत्यहङ्कारवचसालापेन ध्वनिरुत्पन्नः। इत्थं बिन्दुध्वनियोगेन वर्णोद्गमः।

शक्तिसङ्गमतन्त्रानुसारं काल्युपासनैव कुलपदेन प्रोच्यते, अतः काल्युपासकाः कौला इत्युच्यन्ते। कुलपदस्यानेकेऽर्थाः प्रसङ्गादुट्टङ्किता अत्र। सृष्टिस्थितिसंहारतुर्य-भेदेन त्रिपुट्या गुणनेन द्वादशभेदाः काल्याः संभाव्य तेषां वर्णनमपि ध्याननामनिर्व-चनाभ्यां सह सन्निवेशितम्। कलधातोर्निष्पन्नः कालशब्दः शिवपर्याय एव, तस्य शक्तिः काली असंख्यभेदभिन्नापि परादिभेदेन मुख्यतया चतुर्धा विजृम्भते। सा सततपञ्चकृत्यविधायिनी चिद्रूपा स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वोन्मीलननिमीलनाभ्यां विश्वात्मिका विश्वोत्तीर्णा चेति सर्वथा निरर्गलं तस्याः स्वातन्त्र्यं माहात्म्यं च। शक्तेरपि द्वादशधैव पार्यन्तिकश्चमत्कारो व्यवहारनिर्वाहाय भवितुमर्हतीति द्वादश-विधकलनस्वरूपानुगमोऽयमित्यभिनवगुप्तसमर्थितः पन्थाः।

चिद्गगनचन्द्रिकोक्तरीत्या कालीशक्तेश्चमत्काराधायकोऽतिशयः संक्षेपेण कैश्चिच्छ्लोकार्थैरुपन्यस्तः कालीविद्यातच्छक्त्योर्निःशेषेण वर्णनं महता कालेन महता च श्रमेणापि मादृशैरशक्यमेव। विशाले तन्त्रवाङ्मये प्रसृतं कालीविद्यातच्छक्त्यो-र्निगूढं तत्त्वं भगवदनुग्रहैकलभ्यं नैष्ठिकैरुपासकैराकलयितव्यमिति किमपि दिङ्निर्देश-दिशा कथयित्वा विरम्यते॥

तारातत्त्वम्

ब्रह्मचारी श्रीशङ्करानन्दः, नव्यन्यायवेदान्तसांख्ययोगाचार्यः, एम० ए०, वरिष्ठानुसन्धाता
(सीनियर फैलो) योगतन्त्रविभागः, वा० सं० वि० वि० वाराणसी ।

आराध्या तारिणी देवी यया सर्वमिदं ततम् ।
यत्कृपालेशमात्रेण मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥

प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रये विविधकर्तृभोक्तृसंयुते मनसाऽप्यचिन्त्यरचनारूपे नामरूपाभ्यां व्याकृते चतुर्दशभुवनात्मकेऽस्मिन् जगति ब्रह्मादिस्थावरान्ताः समेऽपि प्राणवन्तः प्राक्तनकर्मफलजन्मजरामरणादिविविधदुःखमनुभवन्तस्तापत्रयाक्रान्तचेतस्तया दंदह्यमानाः पीड्यन्त इति न तिरोहितं दर्शनगगनविहरणपाटवानां प्रेक्षावतां विदुषाम् । अत एव दुःखत्रयोच्छित्तये परमानन्दावाप्तये च खलु सततं प्रयतन्ते सचेतसश्चेतनाः । वेदान्तादीनि विविधदर्शनान्यपि तदर्थमेव लोके विविधान् मार्गानुपदिशन्ति नानासम्प्रदायाश्रयत्वमावहन्ति । शक्तितत्त्वसमुपासकपुरुषधौरेया अपि स्वात्मानुरूपामिष्टविद्यामवलम्ब्य तदर्थमेव प्रवर्तन्ते ।

शक्तिश्च जगन्माता ब्रह्मादिदेवानामपि प्रकृतिभूता सच्चिदानन्दविग्रहा ब्रह्मस्वरूपा परतत्त्वरूपा चेति तान्त्रिकाणां डिण्डिमघोषः । तथा च वाडवानलीयतन्त्रे—

"एकैवाद्या जगत्सूतिः सच्चिदानन्दविग्रहा" इति ।

ऋग्वेदीयमन्त्रोऽप्यमुमर्थं द्रढयति—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि
अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि
अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ (ऋ० १०-१२५-१)

अत्र 'अहं' इतिपदस्य शक्तिरेवार्थः । सैव रुद्राद्यात्मकरूपेण तत्तत्कार्यं करोति । अत एवाग्रिमतृतीयमन्त्रेऽप्यहंपदेन शक्तिरेव बोध्यते—

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां
चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मां देवा व्यदधुः पुरुत्राः
भूरिस्थात्रां भूयावेशयन्तीम् ॥ (ऋ० १०-१२५-३)

'संगमनी चिकितुषी' इत्यादिपदैः पूर्वप्रकृतस्य 'अहं' इतिपदस्य सामानाधिकरण्येन शक्तितत्त्वार्थकत्वं स्पष्टतया विज्ञायते। अत्र हि भगवती चितिरेव वसूनां राष्ट्री = स्वातन्त्र्यशक्तिः, संगमनी = कार्यशक्तिः, चिकितुषी = ज्ञानात्मिका शक्तिः—इत्यादिरूपेणात्मानमुद्घोषयति। किं बहुनात्रत्यं समस्तं सूक्तं शक्तिमेव प्रतिपादयति। ऋग्वेदे च श्रीसूक्तादेरपि शक्तितत्त्वस्य प्रतिपादकत्वं सार्वजनीनम्। मार्कण्डेयपुराणे—

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥

अस्मिन् श्लोके भगवत्या जगज्जन्मस्थितिभङ्गहेतुत्वेन वर्ण्यमानतया तस्याः सच्छब्दवाच्यसच्चिदानन्दात्मकब्रह्मरूपत्वमनिच्छद्भिरप्यङ्गीकार्यम्। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिवेदान्तवाक्यैः, "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रेण च प्रतिपाद्यमानस्य ब्रह्मलक्षणस्य शक्तौ सत्त्वात्तस्या ब्रह्मरूपत्वं सुतरामायातम्। औपनिषदा अपि 'सदेव सोम्य' इत्यादिश्रुतिसहस्रबोधितविश्वकारणत्वादिकं शक्त्यभिन्नस्यैव ब्रह्मणः स्वीकुर्वन्ति, नाशक्तस्य कस्यचन। लोकेऽपि शक्तस्यैव यावत्कार्यसम्पादकत्वं नेतरस्येति। महानिर्वाणतन्त्रे शिवः शक्तेरेव सर्वकारणत्वमङ्गीकुर्वन् कथयति—

'त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।'

तस्माद् भारतीयनिगमागमवाङ्मये देव्याः सच्चिदानन्दरूपत्वं सर्वात्मकत्वं सर्वभावातीतत्वादिकं च तत्र तत्र श्रुतिस्मृतिवचनसहस्रैः प्रतिपादितमिति तस्या ब्रह्मात्मकता वज्रलेपायिता।

सेयं महामहिमशालिनी ब्रह्मादिसमुद्भवा प्रकृतिभूता भुक्तिमुक्तिसमस्तपुरुषार्थप्रसवित्री भगवती चिच्छक्तिरेव समुपास्यतया तत्तच्छास्त्रेषु विभिन्नरूपैर्गीयते, अनादिकालान्निगमागमशास्त्रेण प्रवर्तिता प्रतिष्ठिता चैकरूपापि जगन्मातुरुपासना नामरूपाभ्यां वैविध्यमासाद्य साधकरुचिभेदादनेकरूपतां दशमहाविद्यारूपेण सरहस्यां प्रशस्यतां च भजते। तथा च चामुण्डातन्त्रे—

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
बगला सिद्धविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका।
एता दश महाविद्याः सिद्धविद्याः प्रकीर्तिताः॥

अत्र कालीताराषोडशीतिनामभिः प्रसिद्धं तद्रूपत्रयं प्राधान्येन शक्तितत्त्वपरिचायकम्। अवशिष्टानि खल्वितराणि सप्तरूपाण्यासामेव रूपाणीत्यामनन्त्या-

गमशास्त्रपारदृश्वानो मनीषिणः। "तासु तिस्रो विशिष्यन्ते काली तारा च सुन्दरी" इति मेरुतन्त्रे। ब्रह्मादिसिद्धैरप्युपास्यत्वेनासां सिद्धविद्यात्वम्, महाशक्तिरूपत्वेन च महाविद्यात्वम्।

दशमहाविद्यानां प्रादुर्भावः

आसां दशमहाविद्यानामुपास्यत्वेन प्रसिद्धानामाविर्भावविषये श्रीमहाभागवताख्यमहापुराणेऽष्टमेऽध्याये शिवनारदसंवादात्मिकैका कथा वर्तते। अस्यां कथायां शिवो नारदं प्रति जगाद—दक्षयज्ञसमये पौनःपुन्येन वार्यमाणाऽपि सती बलवत्तया जिगमिषयाऽऽन्दोलितहृदयाऽऽरक्तलोचना क्रुद्धा सा मामाह—

सम्प्रार्थ्य मामनुप्राप्य पत्नीभावेन शङ्करः।
अधिक्षिपत्यद्य तस्मात् प्रभावं दर्शयाम्यहम्॥

"मां सतीं पत्नीरूपेण समुपस्थितां ज्ञात्वा शङ्करोऽधिक्षिपति, अत इदानीं स्वकीयं प्रभावं प्रदर्शयामि" इत्थं ब्रुवती सा कालाग्नितुल्यनयना क्रोधविस्फुरिताऽधरा जाता। तामित्थं विलोक्य शङ्करो भीतभीतो निमीलिताक्षः सन् पलायितुमारभते स्म। पलायमानं तं वारयितुं पुनः पुनः 'मा भैः' इति सुभयानकं साट्टाट्टहासं शब्दं चकार। तं शब्दं श्रुत्वा भयविह्वलः शङ्करोऽतिवेगतः पलायाञ्चक्रे। एवं भयाभिभूतं पलायमानं तं वीक्ष्य भगवती सर्वासु दिक्षु दशमूर्त्तीर्विधाय तमवरोधयामास—

एवं पतिं वीक्ष्य भयाभिभूतं
दयान्विता सा पतिवारणेच्छया।
सर्वासु दिक्षु क्षणमग्रतः स्थिता
तदा च भूत्वा दशमूर्तयः पराः॥ (८।५७)

एवं तां विलोक्य शङ्करः 'मम प्राणवल्लभा कुत्र गता त्वं च का?' इत्यपृच्छत्। पृष्टा साऽऽत्मनः काल्यादिदशरूपतां स्पष्टमुररीचकार—

न पश्यसि महादेव सतीं मां पुरतः स्थिताम्।
काली तारा च लोकेशी कमला भुवनेश्वरी॥
छिन्नमस्ता षोडशी च सुन्दरी बगलामुखी।
धूमावती च मातङ्गी नामान्यासामिमानि वै॥ (८। ६२–६३)

इत्थं दशसंख्याकानां देवीनां स्वरूपमवलोक्य 'कस्याः किन्नाम' इत्यादिना तासां पार्थक्येन वैशिष्ट्यं नामादिकं च शिवेन पृष्टम्। पृष्टा सा पुरो वर्तमानां 'काली', ऊर्ध्वं व्यवस्थितां श्यामवर्णां 'तारा', वामपार्श्वे स्थितां 'भुवनेश्वरी', दक्षिणभागस्थां 'छिन्नमस्ता', पृष्ठभागस्थां 'बगला', वह्निकोणस्थां 'धूमावती', 'नैर्ऋत्यां दिशि वर्तमानां 'त्रिपुरसुन्दरी', वायव्यकोणस्थां 'मातङ्गी', ऐशान्यां दिशि विद्यमानां 'षोडशी', अधोभागस्थां 'कमला' इत्यवर्णयत्।

श्रीशिवमहापुराणे उमाखण्डान्तर्गतपञ्चाशत्तमेऽध्याये वर्ण्यमानकथायां दुर्गमाख्यासुरेण पीडिता देवा भगवतीमुमां प्रार्थयामासुः । तत्र परमकरुणास्वरूपाया भगवत्याः शरीरादसुराणां विनाशाय सुराणां च रक्षणाय सायुधा रम्या दश मूर्तयः प्रादुर्बभूवुः । इमा मूर्तयो दशमहाविद्यापदेन व्यपदिश्यन्ते—

एतस्मिन्नन्तरे तस्याः शरीराद्रम्यमूर्तयः ।
काली तारा छिन्नमस्ता श्रीविद्या भुवनेश्वरी ॥
भैरवी बगला धूम्रा श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी ।
मातङ्गी च महाविद्या निर्गता दश सायुधाः ॥
(शि० पु०, उ० ख० ५० । २८-२९)

तत्र द्वितीयमहाविद्यां तारामवलम्ब्यास्मिन्निबन्धे तदीयस्वरूपभेदादिविविधविषयेषु विविधविचारान् निवेदयिष्ये ।

भगवत्यास्ताराया उपासनं भारतवर्षे भोटादिप्रदेशेषु चानेकसम्प्रदायेषु बहुकालतः परमश्रद्धेयतया प्रचलद् आगच्छति । बौद्धजैनमतावलम्बिनां हिन्दूनां च विविधभाषासु ताराविषयका अनल्पा ग्रन्था इदानीमपि समुपलभ्यन्ते । तेषु प्रायः सर्वेषु ताराया मुख्यतया त्रयो भेदा उपलभ्यन्ते । तारायाश्च मूलरूपेण सर्वात्मकत्वं ब्रह्मविष्ण्वादिभ्योऽपि परत्वमखिलदेवादिनियामकत्वं बौद्धेषु हिन्दुष्वपि च स्वीक्रियते । ब्रह्मयामले ब्रह्मा वशिष्ठं प्रत्यकथयद् यन्महाप्रलये स्थावरजङ्गमात्मकस्य विश्वस्य लये सति स्वीयां तनुमुपसंहरन्ती महाशूलत्रयं विधाय तत्र चैकाकिनी स्थिता आसीत् । पुनः कालान्तरे जगत्सिसृक्षयाऽखिलब्रह्माण्डनिर्माणमकरोत् । तत्र च तस्याः प्रभावप्रसादाभ्यां वयं ब्रह्मविष्णुरुद्राख्यास्त्रयो देवा ब्रह्माण्डनायकत्वं समवाप्य सृष्टिपालनसंहाराख्ये स्वे स्वे कर्मणि प्रवृत्ताः—

तयोपदिष्टाः कृपया भवामः सृष्टिकारकाः ।
तस्याः प्रसादाद् विप्रेन्द्र वयं ब्रह्माण्डनायकाः ॥
अन्ये सुरगणाः सर्वे तस्याः पादप्रसेवकाः ।

एवं ब्रह्मादिसमस्तदेवशक्तिभूताऽखिलब्रह्माण्डमातृरूपा समाराधिता सती चतुरः पुरुषार्थान् प्रयच्छन्ती भगवती ताराऽनन्तरूपविभिन्नाऽपि समुपासकानां भक्तानां रुचिमनुसरन्ती प्राधान्येन रूपत्रयमादधाना तन्त्रादिशास्त्रेषु तत्र तत्र वर्णिताऽस्ति—

एतासां सर्वमन्त्राणां देवतास्त्रितयाः स्मृताः ।
आद्या चैकजटा प्रोक्ता द्वितीया चोग्रतारका ॥
तृतीया नीलवाणी स्याद् भोगमोक्षप्रदा मता ।

ताराहस्यस्य प्रथमपटले ताराया इमे त्रयो भेदाः स्पष्टतयोल्लिख्यन्ते । तारोपनिषदि च तारायाः "ॐ तत्सद् ब्रह्म । तद्रूपं प्रकृतिपराङ्गनाभं तत्परमं महत्" इत्यादिना

तस्या विश्वात्मकतामुपवर्ण्य ब्रह्मरूपत्ववर्णनपुरःसरं त्रयः प्रधानभेदा वर्ण्यन्ते—"उग्रतारां महोग्रां नीलां घनामेकजटां महामायां प्रकृतिं मां विदित्वा यो जपति" इति। यद्यपि मायातन्त्रे—

तारा चोग्रा महोग्रा च वज्रा नीलसरस्वती।
कामेश्वरी भद्रकाली इत्यष्टौ तारिणी स्मृता॥

इत्यष्टौ भेदा वर्णिताः सन्ति। ताराभक्तिसुधार्णवे एकादशतरङ्गे—'एकजटाप्रसादेन' इत्यादिग्रन्थेन ताराया बहवो भेदा उक्ताः। शङ्कराचार्यस्य तारारहस्यवृत्तौ—तारा, उग्रा, महोग्रा, वज्रकाली, सरस्वती, कामेश्वरी, भद्रकाली इत्यादिभेदा दृश्यन्ते, तथापि पूर्वोक्ता एकजटादित्रयो भेदा एव प्रधानतया तान्त्रिकसम्प्रदायाभ्युपगताः सन्ति।

तारायाः प्रादुर्भावविषये माहात्म्ये च प्राणतोषिण्यां पञ्चरात्रीयमुपाख्यानमुपलभ्यते। तथाहि—एकदा भगवान् विष्णुः परमतेजःसम्पन्नैः सिद्धमहात्मभिः सेव्यमानं नीलाचलं सम्प्राप्य तस्योल्लिलङ्घयिषया सिद्धैर्वार्यमाणोऽपि गरुडमादिदेश। देव्याः प्रभावेण स्तम्भीमावमवाप्य भूमिमागत्य हरिस्तं गिरिमुत्थापयितुं प्रारभत। परन्तु स न शशाक। पश्चात् सहस्रद्वयसंवत्सरपर्यन्तं भ्रान्तमत्र तत्र परिभ्राम्यन्तं हरिं क्रुद्धा जगन्माता वामहस्तेन सिद्धसूत्रेण संवेष्ट्य लवणाम्भसि चिक्षेप। तत्र गत्वा ब्रह्मा लवणाम्भोनिधौ निमज्जन्तं तं वीक्ष्य 'किमिदं कथ्यतां शीघ्रं विस्मयं मम नाशय' इति प्रावोचत्। ततः 'मामुद्धारं कुरु सत्वरम्' इति हरिणा प्रोक्तो विष्णुमुद्धर्तुमुद्युक्तोऽपि स न शशाक। प्रत्युत सोऽपि बद्धः। एवं विष्णोरुद्धारार्थमागतानामिन्द्रादीनामपि सैव गतिरभूत्।

अथ काले व्यतीते जीवोऽखिलाँल्लोकान् परिभ्रमन् देवांश्चानवलोकयन् भगवतः शिवस्यान्तिकमवाप। तं च प्रणम्य कृताञ्जलिः सन् ब्रह्मविष्ण्वादिविषये पप्रच्छ। शङ्करेण समस्तो वृन्तान्तोऽभाणि—

अवमन्य च कामाख्यां विष्णुब्रह्मादयः सुराः।
दुःखमापुः सदोद्विग्ना लवणाम्भसि पीडिताः॥

अथ तेषां समुद्धाराय सुरगुरुणा जीवेन प्रार्थ्यमानः शिवो लवणाम्भोनिधितटं सम्प्राप्य देवांश्च समुत्थाप्य वेपमानान् तान् समाश्वास्य जगन्मातुः कामाख्यायाः स्तोत्रविषये प्रबोधयामास। तैश्च स्तुता सा प्रसन्नीभूय तत्रैव चाविर्भूय तेभ्यो वरं ददौ। सा एव तारा कामाख्यारूपेणेदानीमपि स्तूयते।

एवं च सा ताराऽस्ति यस्माद् भक्तान् दुःखक्लेशसमुद्रात् तारयति (तृ प्लवनतरणयोः+णिच्+अच्)। लीलया वाक्प्रदातृत्वेन नीलसरस्वती, कैवल्यदायिनी-

त्वेन एकजटा, उग्रापत्तिरक्षिकात्वेन उग्रतारा, इत्येवं तस्या नामानि व्युत्पत्त्यर्थ-लभ्यत्वेन प्रसिद्धानि । अत एव नारदपञ्चरात्रे—

दक्षगेहे च योत्पन्ना सतीनाम्नेति कीर्तिता ।
कैवल्यदायिनी यस्मात्तस्मादेकजटा स्मृता ॥
तारकत्वात् सदा तारा लीलया वाक्प्रदा यतः ।
नीलसरस्वती प्रोक्ता उग्रत्वादुग्रतारिणी ॥
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता ॥

भगवत्या एकजटात्वं च एकजटाख्यरुद्रेण सह सम्बन्धाद् इति केचित् । ताराहस्ये प्रथमपटले—

आद्या कल्पे मुक्तकेशी रुद्रस्त्वेकजटः स्वयम् ।
अस्माच्चैकजटा प्रोक्ता················॥
उग्रापत्तारिणी यस्मादुग्रतारा प्रकीर्तिता ।
दत्ता वाग् नीलया यस्मात्तस्मान्नीलसरस्वती ॥

न चैवं नारदपञ्चरात्रवचनविरोध इति वाच्यम्, 'नीलया वाक्प्रदा' इति पाठस्यैवौचित्यात् । अत एव ताराहस्यप्रथमपटले ब्रह्मानन्देनोक्तम्—'नीलयेत्यत्र लकार-पाठस्तु न, तदा नीलसरस्वतीति भवति । एतत्तु भ्रान्ता वदन्ति' ।

स्रग्धरास्तोत्रीयप्रथमश्लोकटीकायां भिक्षुजिनरक्षितेन—'त्रिभवगताशेषदुःखार्ण-वान् महाकरुणया सत्त्वांस्तारयतीति तारिणी तारा वा' इति व्युत्पत्तिः कृता ।

ताराभेदविषयको विचारः

पाश्चात्त्यभाषाविशारदैर्विनयतोषभट्टाचार्यप्रभृतिभिस्तन्त्राणां तदीयोपास्य-देव्यादीनां विषये मूर्तिकलादिपद्धतिमाश्रित्यैतिहासिकत्वादिविचारोऽतिविस्तरेण कृतः । साधनमालायाः सप्तत्रिंशत्यधिकैकशततमसाधनस्यैतिहासिकं महत्त्वं बहु प्रदीयते । यतो हि तत्रान्ते एका पङ्क्तिरस्ति 'एकजटा साधनं समाप्तम् । आर्यनागार्जुनपादैर्भोटेषूद्धृतमिति' । एतच्चार्यनागार्जुनप्रोक्तमेकं साधनम् । यस्य चानयनं तैर्भोटदेशात् कृतम् । वस्तुतस्त्वत्रैकजटायाः षट्साधनानि वर्णितानि सन्ति (S. N. 123-127) । एषु चैकजटाया यद् वर्णनमुपलभ्यते, तस्य च महाचीनक्रमतारासाधन (100, 101)-वर्णनेन सह साम्यमस्ति । उभयोस्तुलनात्मकाध्ययनेनेत्थं ज्ञायते यद् बीजमन्त्रमन्तरो-भयोरन्यत् समानमस्ति । महाचीनक्रमताराया मन्त्रे त्रीण्यक्षराणि सन्ति (त्र्यक्षरी विद्या ॐ ह्रीं हुम् No. 101) । एकजटामन्त्रो वै चतुरक्षरः (ॐ ह्रीं त्रीं हुम् S. N. 125, 126, 127, 128,), ह्रीं त्रीं हुं फट् (S. N. 124) । यदा कदा च पञ्चाक्षराणि भवन्ति ॐ ह्रीं त्रीं हुं फट् (S.N. 124) ।

परन्तु हिन्दुतन्त्रानुसारेण केवलतारा नह्यस्ति, अपि तूग्रतारा, एकजटा, महानीलसरस्वतीत्याख्या देव्यः सन्ति। ध्यानविषयेऽपि साम्यमस्तीति सर्वं तन्त्रसारे 514 पृष्ठे द्रष्टव्यमस्ति। अत्रेदमवधातव्यं यदेकाधिकैकशततमे साधनमालायाः साधने चीनतारानुष्ठानसाधनाय स्थाननिर्देश उपलभ्यते—

> एकलिङ्गे श्मशाने वा शून्यागारे च सर्वदा।
> तत्रस्थः साधयेद् योगी विद्यां त्रिभवमोक्षणीम्॥

एकलिङ्गे, श्मशानस्थले, अत्येकान्तस्थले वा एकजटासाधको योगी भगवतीं त्रिभव-मोक्षदामेकजटां साधयेत्।

क्षेपकसहितोऽयमेव श्लोकस्तन्त्रसारे 507 पृष्ठे फेत्कारिणीतन्त्रीयनीलसरस्वती-विषयकानुष्ठानभूमिमुल्लिखति—

> एकलिङ्गे श्मशाने वा शून्यागारे चतुष्पथे।
> (शवस्योपरि मुण्डे वा जले वा कण्ठपूरिते।
> संग्रामभूमौ योनौ वा स्थाने वा विजने वने॥)
> तत्रस्थः साधयेद् योगी विद्यां त्रिभुवनेश्वरीम्॥

तन्त्रसारे बहुप्रमाणोद्धरणपुरस्सरं पूर्वोक्तदेवीनां परस्परभेदस्य वर्णनं कृतम्। तत्र नीलसरस्वती सा, या पञ्चाक्षरीविद्याऽस्ति, अथ च 'सर्वभाषामयी शुद्धा सर्वाम्नायैर्नमस्कृता' (नीलतन्त्रे) यदा सा ताराविलक्षणा, अर्थात् प्रणवरहिताऽस्ति, तदा 'एकजटा' इत्युच्यते (She is Ekajata while she is separated from Tara i. e. the Pranave)। यदा तारया सह मेलनं तदा नीलसरस्वतीत्युच्यते। यदा सा त्र्यक्षरी विद्या, तदा सा उग्रतारा अस्ति। परन्तु सर्वासामासां मूलभूता प्रधानस्वरूपा एकजटैव देवी, प्रकृतित्वात्—

> पञ्चाक्षरी एकजटा ताराभावे महेश्वरी।
> ताराद्या तु भवेद् देवि श्रीमन्नीलसरस्वती॥
> उग्रतारा त्र्यक्षरी च महानीलसरस्वती।

सर्वासां विद्यानामेकजटैव देवता, प्रकृतित्वात् (तन्त्रसारे पृ० ५०७)। एवं चेदं स्पष्टमस्ति यद् हिन्दुतन्त्रेषु एकजटा–नीलसरस्वती–उग्रताराख्यानां देवीनामुपासनादृष्ट्या मन्त्राक्षरन्यूनाधिकभेदाद् यद्यपि स्वरूपाणि भिद्यन्ते, तथापि मूलत ऐक्यमेव। बौद्धतन्त्रेषु नीलसरस्वत्या नामतो वर्णनाभावेऽपि महाचीनक्रमताराऱूपेण तस्या एव वर्णनमस्ति। इदं तु निश्चप्रचं यदेकजटा–महाचीनक्रमतारयोरुपासनविधिर्बहिर्देशादागतः। इयं च प्रणाली हिन्दुतन्त्रेषु प्रायः स्वीक्रियते। अत्र च या नीलसरस्वती सर्वविद्यामयी सर्वाम्नायैर्नमस्कृता, तस्या उपासनापद्धतिर्वशिष्ठेनानीतेति

कथा खलु प्रमाणम्। तारातन्त्रे ब्रह्मयामलादितन्त्रस्थाया अस्याः कथाया वर्णनमुपलभ्यते। तत्र हि—ब्रह्मणा प्रेरितो वशिष्ठो महाचीनदेशं समवाप्य बुद्धाद् महाचीनक्रमताराया उपासनापद्धतिमगवत्य भारते आनीतवान्। यदीयं कथा प्रमाणपथं न त्यजति, तदानिच्छद्भिरपीदं स्वीकार्यं यद् महाचीनतारोपासनविधिर्मूलतो नैतद्देशीयोऽपि तु चीनदेशात् (तिब्बतप्रदेशात्) नेपालद्वारा भारतवर्षे समागतः। अत एव नेपालदेशे बौद्धेषु हिन्दुषु च सर्वत्रैव नीलताराया उग्रतारायाश्च पूजनं भवति।

तथा चोभयधर्मावलम्बिषु तारादेव्या मूलतो वैदेशिकत्वं स्वीकृतम्। तत्र महाचीनताराया एकजटायाश्चार्चनादिकं बौद्धेषु, महाचीनतारा–एकजटा–उग्रतारा–नीलसरस्वतीत्यादिरूपेण तस्या एवार्चनादिकं हिन्दुतन्त्रेषु प्रसिद्धम्। नागार्जुनेन भोटदेशादियं विद्या आनीता। हिन्दुषु तस्य बौद्धधर्मावलम्बित्वेनोपेक्षणीयतया तत्स्थाने वशिष्ठमुनेर्नामकल्पनम्, येन च सा विद्या महाचीनदेशादानीता। इत्थं केचिद् (P. C. Bagchi) वर्णयन्ति The name of Siddha Nagarjuna seems to have repugnant to the Hindus as being a typically Buddhist one and this is why it was probably replaced by that of Vasistha. (Studies in Tantras, H 3)

बी० भट्टाचार्यमतानुसारेण ताराऽथवा नीलसरस्वती या चाक्षोभ्यं स्वशिरसि वहति, सा बौद्धदेवीति सुनिश्चितम्। तोडलतन्त्रे वर्णितमक्षोभ्यमहेशयोरैक्यं न प्राचीनमपि तु नवीनतरमाधुनिकमिति ते कल्पयन्ति। अक्षोभ्यतारासंवादात्मकसम्मोहतन्त्रस्य पञ्चमपटले (दरबार लाइब्रेरी नेपाल see H. P. Sastri, Catalogue of the Darbar Library, II, P. 183) भ्रष्टसंस्कृतभाषायामुट्टङ्किता अधोलिखिताः श्लोका अपि नीलसरस्वत्या मूलस्थानस्य वैदेशिकत्वमुपस्थापयन्ति—

ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा प्रजहास महेश्वरः।
शृणुष्वावहितो विप्र महानीलसरस्वती॥ २॥
यस्याः प्रसादमालभ्य चतुर्वेदान् वदिष्यति।
मेरोः पश्चिमकूले तु चोलनामा महाह्रदः॥ ३॥
तत्र जज्ञे स्वयं देवी माता नीलोग्रतारा।
एतस्मिन्नेव काले तु मेरोः शृङ्गपरायणः॥ ५॥
जपं जाप्यं समासाद्य त्रियुगं च ततः स्थितः।
ममोर्ध्ववक्त्रान्निःसृत्य तेजोराशिर्विनिर्गतः॥ ६॥
ह्रदे चोले निपत्यैव नीलवर्णाऽभवत् पुरा।
ह्रदस्य चोत्तरभागे ऋषिरेको महोत्तरः॥ ७॥
अक्षोभ्यनाम चाश्रित्य मुनिवेशधरः शिवः।
येनादौ जप्यते या तु सत्त्वस्य ऋषिरीरिता॥ ८॥

विश्वव्यापकतोये तु चीनदेशे स्वयं शिवे ।
आकारोपरि टाकारस्तस्योपरि च हुंकृतिः ॥ ९ ॥
कूर्चबीजस्वरूपा सा प्रत्यालीढपदाऽभवत् ।
महोग्रतारा सञ्जाता चीनप्रभा महाकला ॥ १० ॥

महेश्वरो ब्रह्माणं जगाद—भो (ब्रह्मन्) सावधानतया मत्तो नीलसरस्वतीविषये शृणु । यस्याः प्रसादेन त्वं चतुरो वेदान् वदिष्यसि । मेरोः पश्चिमकूले चोलसंज्ञको महाह्रदोऽस्ति । तत्र माता नीलसरस्वती प्रादुर्बभूव । एतस्मिन् समये तपःपरायणस्य ममोर्ध्ववक्त्रात् तेजोराशिर्वहिर्भूय चोलनाम्नि ह्रदेऽपतत् तथा नीलवर्णत्वमवाप। मेरोरुत्तरस्यां दिशि तत्राक्षोभ्यनामा कश्चनर्षिरासीत्, यश्च मुनिवेषेण साक्षात् स्वयं शिव एवासीत् । सोऽयं यः पूर्वं मातृध्यानपरायण आसीत् । देवी स्वयं पार्वती आसीत्, या च महाप्रलयसमयान्ते चीनदेशे स्वावतारं जग्राह ।

अनया कथया इदं ज्ञायते यन्नीलसरस्वती महोग्रताराया एव रूपान्तरम् । या च चोलाक्यमहाह्रदे प्रादुर्बभूव, तस्या त्र्यक्षरी विद्या—'ॐ त्रीं हुम् ।' अत्र च तकारस्य स्थाने टकारपाठः प्रामादिक इति ज्ञायते ।

तन्त्रं खल्वद्यावधि रहस्यपूर्णमेवास्ति । तन्त्रसाहित्यस्य विशालता च प्रसिद्धतमा । तन्त्रं द्विधा, उदारपरमास्तिकभेदात् । परमास्तिकानां (Orthodox) सम्बन्ध आगमेन । तत्र यामलप्रभृतीनां प्रवेशः । उदाराशयानां (Heterodox) सम्बन्धो बौद्धब्राह्मणग्रन्थयोरुभयोरस्ति, यत्र च कुलाचारवामाचारवज्रयानप्रभृतिसम्प्रदायानां बाहुल्यं समुल्लसति । अतिप्राचीनकालादेव वैदेशिकतत्त्वानि शनैः शनैर्भारतीयतन्त्रेषु तत्तत्संप्रदायेषु वा प्रविष्टानि । हरिप्रसादशास्त्रिमहोदयस्तालपत्रीयपाण्डुलिपे-(Catalogue of the Palmleaf MSS of the Darbar Library, Nepal 1906, P., LXXIX. रेकं महत्त्वपूर्णमुद्धरणं कुब्जिकातन्त्रीयमुल्लिखति—

"Go to India to establish yourself in the whole country and make manifold creations in the secred places of primary and secondary importance"—From Studies in Tantras, P. 45 भारतवर्षं गच्छत, तत्र च तीर्थादिपवित्रस्थानेषु प्रारम्भिकं द्वितीयं च महत्त्वपूर्णकार्यं कुर्वन्त आत्मानं (स्वमतं) समस्तदेशे प्रतिष्ठापयत ।"

एतेन कुब्जिकातन्त्रीयसम्प्रदायस्य तदीयोपासनाप्रकारस्य च बहिर्देशीयत्वं स्पष्टं विज्ञायते । तारातन्त्रानुसारेण 'चीनतारा' महाचीनदेशाद् आगता । वशिष्ठाख्यो महान् ऋषिश्चीनदेशं गत्वा बुद्धस्य सविधे चीनाचारस्य रहस्यमयीमुपासनापद्धतिं शिक्षाद्वारा भारतवर्षे आनीतवान्, तत्रत्यं सिद्धान्तजातं स्वायत्तीकृत्य भारतवर्षे प्राचारयत् ।

ताराविषये हीरानन्दशास्त्रिणो मतम्

हीरालालशास्त्रिमहोदयस्ताराविषये "The origin and cult of Tara" इत्येतन्नाम्नि ग्रन्थे महता समारोहेण न्यभान्त्सीत् यत् तारादेव्या भारतवर्षे भोटदेशादागमनं सञ्जातम्। इयं च देवी खिस्तीयपञ्चमशताब्द्याः प्राग् भारतवर्षे पूज्यतमा नासीत्। ताराया विशिष्टनामत्वे तैर्हेतुः प्रदर्शितः—एकजटा सा, यतो हि तस्या एका जटाऽस्ति (Because of her one Chignon)। सा नीला नीलसरस्वती वा उच्यते, यतो हि सा नीलवर्णा तथा बुद्धेर्ज्ञानस्य प्रतिमूर्तिरस्ति। भयानकस्वरूपत्वाद् उग्रापद्रक्षणाद्वा 'उग्रा' उच्यते (उग्रापत्तारिणी यस्माद्)। ताररहस्य-तारातन्त्र-मन्त्रमहोदध्यादिग्रन्थानुसारेण मुख्यरूपेण सा रक्षिका त्रात्री वा कमलपुष्पस्थशवारूढा प्रत्यालीढपदा तथा नीलवर्णा चास्ति। अक्षोभ्यश्च तस्याः शिरसि राजते। तस्याः करेपु विशिष्टानि भूषणानि सर्पप्रभृतीनि चिह्नानि सन्ति।

ताराप्राचीनताविचारः

महाभारते धर्मराजयुधिष्ठिरेण या स्तुतिः कृता तत्र 'तारिणी' इति नाम वर्तते। ताराऽथवा तारिणी नामद्वयं समानार्थकम्, तरत्यनयेति व्युत्पत्तेः। या देवी विपत्तिसागराद् उद्धर्तुं समर्था सा तारा (The Goddess who enables one to swim a cross the waters of triblation) एतन्नामातिरिक्तान्यपि विशिष्टनामानि तत्र सन्ति। यथा काली, चण्डी, सरस्वती। अत इदं स्पष्टं ज्ञायते यत् तारिणी एका विशिष्टा देवी, यस्या विशिष्टं देवीत्वम्, परन्तु यदा खल्वेतत्स्तोत्रस्थानि महत्त्वख्यापकानि अस्या लक्षणानि स्मर्यन्ते, तदा विचारो जागर्ति यदियं द्वितीयमहाविद्यारूपेण तन्त्रेषु या स्वीकृता सैवातिरिक्ता वा स्तोतुर्लक्ष्यभूता। अस्याः स्तुतेर्दुर्गा देवताऽस्ति। सा च शाक्तसम्प्रदायस्य महत्त्वपूर्णग्रन्थे मार्कण्डेयपुराणे बहु वर्णितोपलभ्यते। अथ च या देवानां सर्वेषां तेजसां प्रतिकृतिर्यस्याश्चान्याः शक्तयोऽङ्गभूता रूपान्तराणि वा।

ततः समस्तदेवानां शक्रादीनां शरीरतः।
निर्गतं सुमहत्तेजस्तच्चैक्यं समगच्छत ॥ (शप्त० २। ११)।

अत्रैतत् सम्भाव्यते यदयं प्रयत्नो विश्वात्मवादं (Monotheism) लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तते। परन्तु तत्र संशयो यद् दशमहाविद्यायास्तन्त्रेषु वर्णितायाः परिचयो महाभारतलेखकस्यासीन्न वा। तन्त्रेषु महाविद्या दश वर्णिताः सन्ति। मार्कण्डेयपुराणे तु—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः।
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी ॥
महारात्रि महाविद्ये नारायणि नमोऽस्तु ते।

अत्र हि नारायणीरूपा खल्वेका महाविद्योपलभ्यते। अत एतज्ज्ञायते यद् मार्कण्डेयपुराणकृतो दशमहाविद्या अपरिचिता एवासन्।

यद्यपि मातृकापूजकसम्प्रदायः प्राचीनतमः, यतो हि 'मातरः' महाभारते मार्कण्डेयादिपुराणेषु च वर्णिताः समुपलभ्यन्ते। मातृणामुल्लेखः कोशेषु प्राचीन-हिन्दुशास्त्रेष्वपि दृश्यते। तासां प्राचीनताविषये शिलालेखादयोऽपि प्रमाणता-मावहन्ति। कदम्बदिनस्ती (Kadamb Dynasty, Indian antiquary. Vo. I, VI, P. 27.) चालुक्यराजानश्च सप्तमातृकाः पूजयामासुः। अपि च, तासां बहवो देवालया मालवाधिपविश्ववर्मराज्यकाले (423–424 A. D. 480 A. D. Fleet, Cupta Inscriptions, P. 76) निरमायिषत।

कुमारगुप्तस्कन्दगुप्तप्रभृतिराजानो मातृकापूजार्थं तासां मूर्तीः स्थापयामासुः। अतो महाभारतीया तारिणी, तान्त्रिकी च तारा एकैवास्तीति संशयास्पदम्।

तन्त्रेषु महानयं प्रयत्नो यत्र 'तारा' अपि पार्वत्याः दिव्यशक्तेर्वा रूपान्तरमिति वर्ण्यमानं दृश्यते। स च प्रयत्नो वेदान्तसिद्धान्तस्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्याकारक-स्यानुकरणमात्रम्। यथा महानिर्वाणतन्त्रे—

इति देव्या वचः श्रुत्वा देवदेवो महेश्वरः।
उवाच परया प्रीत्या पार्वतीं पार्वतीपतिः॥
त्वमाद्या सर्वविद्यानामस्माकमपि जन्मभूः।
त्वं जानासि जगत्सर्वं न त्वां जानाति कश्चन॥
त्वं काली तारिणी दुर्गा षोडशी भुवनेश्वरी।
धूमावती त्वं बगला भैरवी छिन्नमस्तका॥
त्वमन्नपूर्णा वाग्देवी त्वं देवी कमलालया।
सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं सर्वदेवमयीतनुः॥

अत्र हि देवाधिदेवः शङ्करः पार्वतीं प्रत्याह—त्वं समस्तविद्यानां देवादीनां च प्रसवित्री, त्वं सर्वं जानासि, त्वां कश्चनापि न जानाति, त्वं काल्यादिसमस्तविद्यारूपा, सर्वशक्तिरूपा, त्वदीयं शरीरं सर्वदेवमयम्। अत्र यद्यपि महाविद्यासम्प्रदायस्य पूर्णतया विकासः सञ्जातः, परन्तु इदं तन्त्रं महाभारतमार्कण्डेयपुराणापेक्षया नवीन-तरम्। या च युधिष्ठिरकृता स्तुतिः, सा विराट्पर्वणि वर्तते। प्रोफेसरविन्टरनित्ज-(Pro. M. Winternitz)मतानुसारेणोत्तमप्राचीनपाण्डुलिपिष्वियं स्तुतिर्नोप-लभ्यते।

इदं तु निश्चितं यच्छक्तेराराधनं यद्यपि प्रागासीत्, तथापि दशमहाविद्या-रूपेण विकसितायाः शक्तेरुपासनं ख्रिस्तीयतृतीयचतुर्थशताब्द्याः प्राङ् नासीत्।

यदि चेमा विद्यास्ततः प्राचीनतमाः स्युः, कथं न विराड्वेदादिशास्त्रेषु वर्ण्यमाना उपलभ्येरन्। तस्मादर्वाचीनत्वमासाम्। (See Page 4 and 5 of The origin and cult of Tara, by H. Shastri).

तान्त्रिकसम्प्रदायोऽपि नातिप्राचीनः, अत एवाष्टादशपुराणेषु दशमहाविद्यानामासां वर्णनं नोपलभ्यते (The Tantrika cult of the Mahavidyas does not appear to be very old. I am not aware that it is known to the eighteen principal puranas. (P. 5. The origin and cult of Tara)। ब्रह्माण्डपुराणे ललितोपाख्याने ताराया महाशक्तिरूपेण वर्णनमुपलभ्यते। परन्तु सा महाविद्या नास्ति, अपि तु ताराम्बारूपेण वर्णिताऽस्ति। मंगोलेषु 'डारा-एका' (Dara-eka) इति कथ्यते। अस्मिन् पुराणे सा नौकावाहिकानां शक्तीनां प्रधानरूपेति वर्ण्यते—

तासां नौकावाहिकानां शक्तीनां श्यामलत्विषाम्।
प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा ॥
(ब्र० ल० उपा० ३५। १७)

ताराम्बा कृष्णत्वचां नौकावाहिकानां देवीनां प्रधानीभूता, या च जलौघशमने समर्थाऽस्ति। इत्थं चास्यास्ताराया न दशमहाविद्यान्तर्भूतत्वमपि तु द्वितीयविद्यायास्ताराया मूलरूपेति कथञ्चित् सम्भाव्यते। हयग्रीवागस्त्यसंवादे श्रीब्रह्माण्डपुराणोत्तरभागे ललितोपाख्याने पञ्चत्रिंशत्तमेऽध्याये द्वादशश्लोकादारभ्य चतुर्विंशतिश्लोकपर्यन्ता इमे श्लोकाः सन्ति—

........................मनो नाम महाशालः।
तन्मध्यकक्षभागस्तु सर्वाऽप्यमृतवापिका।
न तत्र गन्तुं मार्गोऽस्ति नौकावाहनमन्तरा ॥
तारानाम महाशक्तिर्वर्तते तोरणेश्वरी।
बह्वयस्तत्रोत्पलश्यामास्तारायाः परिचारिकाः ॥
रत्ननौकासहस्रेण खेलन्त्यः सरसीजले।
अपरं पारमायान्ति पुनर्यान्ति परं तटम् ॥
कोटिशस्तत्र ताराया नाविक्यो नवयौवनाः।
मुहुर्गायन्ति नृत्यन्ति देव्याः पुण्यतमं यशः ॥
अरित्रपाणयः काश्चित् काश्चिच्छृङ्गाम्बुपाणयः।
पिबन्त्यस्तत्सुधातोयं संचरन्त्यस्तरीशतैः ॥
तासां नौकावाहिकानां शक्तीनां श्यामलत्विषाम्।
प्रधानभूता ताराम्बा जलौघशमनक्षमा ॥

आज्ञां विना तयोस्तारा मन्त्रिणीदण्डनाथयोः।
त्रिनेत्रस्यापि नो दत्ते वापिकाम्भसि सान्तरम् ॥
तारा तरुणिशक्तीनां समवायोऽतिसुन्दरः।
इत्थं विचित्ररूपाभिर्नौकाभिः परिवेष्टिता ॥
ताराम्बा महतीं नौकामधिगम्य विराजते।

'मानस'संज्ञकः कश्चन महाशालोऽस्ति। तस्य मध्यकक्षभागे बह्वयोऽमृतमय्यो वापिकाः सन्ति। तत्र गमनाय नौकामन्तरा कश्चन मार्गो नास्ति। तत्र ताराख्या एका महती शक्तिरस्ति, या च द्वारं स्वायत्तीकृत्य वर्तते। तत्र कृष्णोत्पलवच्छ्यामवर्णास्ताराया बह्वयः परिचारिकाः सन्ति। इमाश्च रत्ननौकासहस्रेण सरसीजले खेलन्ति। ता उभयतटे आगच्छन्ति गच्छन्ति च। तत्र ताराया अधीनतामवलम्ब्य नवयौवनाः कोटिपरिमिता नाविक्यो नृत्यन्ति देव्याः पुण्यदं यशश्च गायन्ति। काश्चन अरित्रपाणयः, काश्चन शङ्खपाणयः सन्ति। ता अमृताम्बु पिबन्ति, तथाऽत्र तत्र शतनौकाभिः प्रचरन्ति। तासां कृष्णवर्णानां नौकावाहिकशक्तीनां प्रधाना ताराम्बाऽस्ति, या च जलीयमहातरङ्गान् शमयति। मन्त्रिणीदण्डनाथयोराज्ञां विना शिवस्यापि प्रवेशं वापिकाम्भसि निरुणद्धि। तारायास्तथा नौकावाहिकशक्तीनाञ्च समुदायोऽतिसुन्दरोऽस्ति। इत्थं विचित्रवर्णयुताभिर्नौकाभिः परिवेष्टिता ताराम्बा महतीं नौकामधिष्ठाय विराजते।

तान्त्रिकतारा (Second Mahavidya) प्राचीनब्राह्मणग्रन्थेषु क्वचिद् वर्णिता नोपलभ्यते, अत एवाग्निपुराणे देवीप्रतिमावर्णनावसरे ताराया वर्णनं योगिनीरूपेणैव कृतं न तु द्वितीयमहाविद्यारूपेण।

सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा च हयानना। (१४६।१६)
सर्वज्ञा तरला तारा ऋग्वेदा तु हयानना।
अक्षोभ्या रूक्षकर्णी च राक्षसी कृपणाक्षया ॥ (५२।४)

अत्र हि योगिनीनां वर्णनावसरे 'सर्वज्ञा' 'अक्षोभ्या' इति नामद्वयस्योल्लेखो बुद्धं स्मारयति। अक्षोभ्य इति ध्यानिबुद्धानामन्यतमः, सर्वज्ञ इति बुद्धस्यैव नामान्तरम्। इयं तारा अमरकोषवर्णिता मायदीपिकातारा एकैव नान्या, परन्तु द्वितीयमहाविद्यारूपा तारा तद्भिन्नलक्षणाऽस्ति। योगिन्यो यद्यपि मङ्गलकृत्यावसरे पूज्यन्ते, तथाप्यासां प्रतिष्ठा महाशक्तिरूपाणां महाविद्यानामपेक्षया न्यूनाऽस्ति। हीरानन्दशास्त्री अग्रे कथयति—ललितोपाख्यानवर्णिता तारा तन्त्रेषु सर्वथैवापरिचिताऽस्ति (Whether the Tara of the Lalitopakhyana of the Brahmanda Purana is known to the Tantras. I am not certain. Possibly she is not. The origin and colt of Tara, Page 7)। बुहर (Buhler)

महोदयानुसारेण ब्रह्माण्डपुराणस्यान्यपुराणापेक्षया प्राचीनत्वम्। अत एवास्मिन् पुराणे गुप्तवंशीयशासकानां तदुत्तरवर्तिशासकानां च वर्णनं नोपलभ्यते।

ब्राह्मणतन्त्रेषु तारा सुप्रसिद्धा महत्त्वपूर्णा च देवीति वर्ण्यते। क्वचिच्च ताराया अद्वितीयत्वमप्युपलभ्यते।

नैव तारासमा काचिद् देवता सिद्धिदायिनी।

सम्भवतो ब्राह्मणतन्त्राणां ख्रिस्तीयषष्ठशताब्द्याः पूर्वमस्तित्वं नासीत्, अत एव तान्त्रिकग्रन्थेषु वर्ण्यमानायास्ताराया: स्वरूपं प्राचीनब्राह्मणग्रन्थेषु नोपलभ्यते। शिलालेखादिषु यवादिद्वीपेषूपलभ्यमानेषु यस्यास्ताराया: समुल्लेखः, सा च न ब्राह्मणतन्त्रोक्ता, अपि तु बौद्धतन्त्रोक्ता। एकः शिलालेखो देवनागराक्षरैः समुल्लिखितो य उपलब्धस्तस्य समयः सप्तशतशकाब्दमवलम्बते (शक ७०० , ७७८ ए० डी०)। चालुक्यवंशीयत्रिभुवनमल्लविक्रमादित्यस्य (VI) शिलालेखोऽपि पूर्वोक्ते विषये प्रमाणम्। अस्य च राज्ञः शासनकालसमयः सप्तदशाधिकैकसहस्राब्दमासीत् (1017 I. E. 1095-6. A. D.)।

तारा परमप्रसिद्धा, एवं महत्त्वपूर्णस्थानमलंकुर्वाणा उत्तरभारतीयसमुपलभ्यमानवर्तमानतन्त्रेषु दृश्यते। समयाचारतन्त्रानुसारेण तस्या उत्तराम्नायेन सह सम्बन्धोऽस्ति। दक्षिणभारते तारासमुपासकसम्प्रदायस्य प्रचारः प्रायः प्राङ्नासीत्। अत एव गोपीनाथरावमहोदयेन स्वकीये 'आइक्नोग्राफी' (Hindu Iconography) इत्याख्यागमानुसारिग्रन्थे ताराया विषयो दक्षिणदेशसम्बन्धित्वेन सर्वथैव परित्यक्तः। ताराया उदीच्येषु प्रमुखतन्त्रेषु सर्वेषु वर्णनमुपलभ्यते। तत्र च "प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवभृद्घोराट्टहासापरा" इत्यादिश्लोकैस्ताराया यद् ध्यानं प्रोक्तं तत्सर्वथैव बौद्धतान्त्रिकमित्यत्र न संदेहलेशावकाशः, अतो ब्राह्मणतन्त्रेषु तदीयसम्प्रदायेषु वा ताराया वर्ण्यमानं यद् ध्येयस्वरूपं तद् बौद्धतान्त्रिकमेव। वशिष्ठबौद्धकथापि पूर्वोक्तमेव कथनं द्रढयति। बौद्धतारायास्तथा तान्त्रिकताराया ध्यानविषयस्वरूपयोस्तुलनात्मकाध्ययनेनापि पूर्वोक्तमेव मतं दृढीभवति। जैनसम्प्रदायेऽपि ताराया उपास्यत्वेन स्थानं यद्यप्यस्ति, तथापि तत्र सा प्रमुखस्थानं नालङ्करोति। हेमचन्द्रः स्वकीये 'अभिधानचिन्तामणि' इत्याख्यग्रन्थे नवमजिनस्य सुविधिनाथाख्यस्य शासनदेवतारूपेण 'सुतारका सुतारा वा' इति नाम्ना ताराया वर्णनं करोति। श्वेताम्बरजैनमतानुसारेण 'सुतारा सुतारका' इमौ द्वौ शब्दौ समानार्थकतया पर्यायत्वं न जहतः। 'सुतारका' इत्यत्र कः प्रत्ययः स्वार्थे, अतः तारा, सुतारा, सुतारका इतीमे शब्दा एकस्या देव्या नामानि भवन्ति। (Please see page 9, 10 of The origin and cult of Tara)।

अस्यां विचारधारायां प्रमाणम्—

श्वेताम्बरजैनमतानुसारेण भृकुटी, या च बौद्धताराऽवान्तररूपविशेषा, सैवाष्टमजिनस्य चन्द्रप्रभस्य सेविका शासनादेवीत्युच्यते। बौद्धब्राह्मणतारायाः

कस्यचन जिनस्य सेविकारूपेण कथनं नाश्चर्यकरम्, यतो हि जैनानामयं प्रयत्नः स्वसम्प्रदायस्य पूर्वोक्तसम्प्रदायापेक्षया श्रेष्ठत्वख्यापनायैव। इयं च प्रणाली महायान-बौद्धेष्वप्युपलभ्यते। अस्याः शासनादेव्या अपि सम्प्रदायस्तारासम्प्रदायप्रचारानन्तरं समुद्भूत्। जैनाः स्वीयदेवतापेक्षया हिन्दुदेवानां महत्त्वं न्यूनतया ख्यापयन्तीति सुप्रसिद्धमेव। पूर्वोक्तं नामद्वयं श्वेताम्बरमतेऽस्ति, दिगम्बरेषु भृकुटी, ज्वालामालिनी तथा सुतारका महाकालीत्युच्यते।

बुरगिस(Burgess)महोदयेन "दिगम्बर जैन आइक्नोग्राफी" (Digamdara Jaina Iconography in Indian Antiquary.) विषयमवलम्ब्यैकस्मिन्निबन्धे द्वयोरुल्लिखितशासनादेव्योर्ध्येयस्वरूपस्य वर्णनं कृतम्। तच्चेत्थम्—भृकुटी, ज्वालामालिनीत्यपरनाम्नी या च चन्द्रप्रभस्य यक्षिणी अस्ति, तस्या अष्टौ भुजाः सन्ति, तेषु च विभिन्नान्यस्त्राणि तथा द्वौ सर्पौ स्तः। मुकुटात्तेजो निःसरति। अस्या लाञ्छनं (वाहनं) वृषभोऽस्ति (Jvalamalini or Bhrikuti, the yakshini of Chandraprabha, has eight arms, bearing various weapons and two snakes. Flames issue from her Mukuta. Her Lanchhana is the Bull.)

(Page 10, The origin and cult of Tara, by Hiranand Shastri.)

'सुतारकाऽथवा महाकाली चतुर्भुजा सुविधिनाथस्य यक्षिणी या, सा करद्वये दण्डं किमपि फलं च धत्ते, अवशिष्टकरद्वयं मुद्रान्वितम्।

'तारी' नाम्नी काचन खोण्डाख्या(Knonds)दिवासिनामाराध्या देवी हिन्दुबौद्धजैनाभिमतताराविलक्षणाऽस्ति। प्राध्यापकावरीमहोदयेन (Prof. Avery), "Indian Antiquary" इत्यत्र तस्या वर्णनमुर्वराभूम्यधिष्ठातृदेवीरूपेण (Presided over fertility) कृतम्। बीजवपनसमये तस्याः प्रसन्नतार्थं मानवबलिरपि तस्यै प्रदीयते स्म। खोडाः कथयन्ति यत् सा पिनुनाम्ना (Pennu) स्वभर्त्रा सह दिवि निवसति। परन्तु इयं न तारा, यतो हि तारा त्रात्री, इयं च रक्तं पिबति। यद्यप्यस्याः पत्युः स्थितिरवलोकितेश्वरं स्मारयति, तथापीयं तारा कथमपि भवितुं नार्हति, स्वभाववैलक्षण्यात्। नामसाम्येनोभयोरैक्यं नोचितम् (The resemblance of the nam°s can hardly be taken as a froof of identity especially when we remember the maxim that sound etymology does not depend on the similarity of sound. Page 11 of the origin and cult of Tara.)।

---

१. Mrs. Sinclair stevenson, The heart of Jainism.
P. 312 (chart)

यद्यपि ताराया इयमेव प्राचीनतमा मूर्तिरिति कथनं दुःशकम्, तथापि ख्रिस्तीय-षष्ठशताब्द्याः प्राचीना काचनापि प्रतिमा नास्ति। इदं तु निश्चप्रचं यद् ब्राह्मणतन्त्रोक्त-ताराया इमाः प्रतिमा न सन्ति। मध्ययुगीयतारामूर्तयोऽपि बौद्धतन्त्रसम्बन्धिन्य एव। (Yuan Chuang) यौचंगलेखानुसारेण मध्ययुगेऽपि द्वितीयमहाविद्यारूपा तारा नासीत्, अपि तु तस्य समये बौद्धताराया एव प्रचारः सर्वत्रासीत्। ताराया उपासना-विधिरष्टमशताब्द्यां यवद्वीपे गतः। यवद्वीपस्य तत्कालीनप्रसिद्धतमे कलसनचण्डी-नाम्नि (Kalasan chandi) देवालये समुपलब्धनागराक्षरलेखानुसारेणोपर्युक्त-मन्दिरनिर्मातुः स्तुतिरुपलभ्यते। तत्र हि शैलेन्द्राख्यः[1] कश्चन राजकुमारो भगवतीं तारामुद्दिश्य श्रद्धाञ्जलिं प्रयच्छति, स्तुतिं च करोति : तारा मानवलोकरक्षिका, परमोदारा, यस्या विहसनेन सूर्यः प्रकाशते, यस्या भ्रूकुटीभङ्गमात्रेणान्धकारो यावद्वस्तु-मात्रमाच्छादयतीत्येवं तस्या वर्णनमस्ति। शनैः शनैः द्वादशशताब्द्यां सा प्रसिद्ध-तमा सञ्जाता। फलत उत्तरभारते तदानीं तादृशं गृहं कदाचिदेवासीद् यत्र ताराया: प्रतिमा नाभूत्।

बौद्धधर्मे तारा

ताराया बौद्धधर्मे तादृशमेव स्थानं ब्राह्मणधर्मे यादृशं स्थानं दुर्गायाः। यथा दुर्गा शिवस्य शक्तिरूपतामभिनयति, तथैव तारा अवलोकितेश्वरस्य सहायिका शक्ति-रस्ति। यथा दुर्गा अखिलदेवमातृरूपतया पौराणिकगाथासु सर्वोच्चस्थानमलङ्करोति, एवं तारा बौद्धमहायानेषु परमोच्चस्थानं प्राप्नोति। तारा सर्वबुद्धानां बोधिसत्त्वानां च मातृस्वरूपेति वर्ण्यते। एवं च सा बोधिसत्त्वादेः कस्यचनाधीनतायां नास्ति, प्रत्युत सर्वथा सर्वदा परमस्वतन्त्रा सती कस्यचन साहाय्यमन्तरा सर्वत्रैव गन्तुं समर्था, गच्छति च। इयं व्यवस्था नह्यन्यस्य कस्यचन प्रथमस्थानीयदेवस्य, अत एव सर्वा-पेक्षया प्राधान्यमस्याः सुतरामेव। अत एव सर्वत्रास्या जनप्रियतेति न तिरोहितं बुद्धशास्त्रविचरणशीलानाम्। तथा च ताराचरणरेणुधूसरैः सर्वज्ञमित्रपादैर्विरचितेषु स्रग्धरास्तोत्रेषु—

चूडारत्नावतंसासनगतसुगतव्योमलक्ष्मीवितानं
प्रोद्यद्बालार्ककोटीपटुतरकिरणापूर्यमाणत्रिलोकम्।
प्रौढालीढैकपादक्रमभरविनमद्ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णु
त्वद्रूपं भाव्यमानं भवति भवभयोच्छित्तये जन्मभाजाम्॥ (३०)

चूडारत्नानां शिखास्थितमाणिक्यानाम्, अवतंसाः शेखरास्त एवासनानि विष्ट-रास्तेषु गता अवस्थिता ये सुगता अक्षोभ्यादयस्तेषां व्योम्नि नभस्तले या लक्ष्मीः

१. See J. F. Scheltema; Monumental Java, P. 181.

शोभा सैव वितानं यत्र तत्। प्रोद्यन्त उद्गच्छन्तो ये बालार्का उदयगिरिशिरःस्थिता दिनमणयस्तेषां कोटयो लक्षशतानि तेषां पटुतरा अत्युष्णतराः किरणास्तेजांसि, तैरापूर्यमाणं आसमन्ताद् व्याप्यमानं त्रिलोकं भुवनत्रयं येन तत्। प्रौढः साटोपो य आलीढेन वामसंकोचेनैकपादक्रमः पदन्यासः पदशक्तिर्वा तस्य भरेण आक्रमणेन निष्पीडनेन विनमन्त आनम्रीभवन्तो ब्रह्मरुद्रेन्द्रविष्णवो यत्र तत्। इत्थंभूतं यत् त्वद्रूपं तद्भाव्यमानं सह अर्थात् तव मूर्तिर्विचिन्त्यमाना सती जन्मिनां लोकानां भवभयानि संसारसंत्रासास्तेषामुच्छित्तये समुन्मूलनाय भवति सम्पद्यते। अत्र हि ताराया विपत्ति-सागरात् संसारार्णवाद् उद्धारकत्वं ब्रह्मादिसमस्तदेवातिशायिनीत्वं त्रिलोकव्यापिनी-त्वादिकं स्पष्टतया वर्ण्यमानमुपलभ्यते।

स्रग्धरास्तोत्रस्य चतुर्षु श्लोकेषु (31 to 34) ताराया विविधध्येयरूपवर्णना-वसरे सर्वज्ञमित्रपादैस्तारायाः स्वरूपस्य दिव्यलोकस्थितसुगतानन्तनिर्माणकर्तृत्वम्, अद्वयरूपत्वम्, हरिहरहिरण्यगर्भश्रावकप्रत्येकबुद्धदशभूमीश्वरान्यतमबोधिसत्त्वाग्रगस्य-त्वादिकं वर्णितम्। अतस्ताराया बौद्धधर्मे सर्वोच्चं स्थानम्, नात्र संदेहलेशावकाशः।

एवं च ताराया ब्राह्मणतन्त्रसम्बन्धापेक्षया बौद्धतन्त्रेणैवाधिकः सम्बन्धोऽभ्युप-गन्तव्यः। तन्त्रग्रन्था अपि तारोपासनविधिर्बुद्धाद् वशिष्ठेनानीत इति स्वीकुर्वन्त्येव। अत एव तारापूजकेषु चीनाचारस्यातीव महत्त्वम्। चीनचारेण तारा आशु प्रसन्ना भवति। चीनाचारश्च महायानसम्प्रदायप्रचलितोपासनाप्रकारः। अयं चीनाचारो बृहन्नीलतन्त्रे, कमलाकरसूनुशङ्कराचार्यकृततारारहस्यवृत्तौ, रुद्रयामले, ब्रह्मयामलादिषु ग्रन्थेषु च समुपलभ्यते। ब्रह्मयामले देवीश्वरसंवादे प्रथमपटले वशिष्ठेन यदा देव्यै शापः प्रदत्तस्तदा तारा वशिष्ठं प्रत्याह—

> चीनाचारं विना नैव प्रसीदामि कदाचन।
> उवाच साधकश्रेष्ठं वशिष्ठमनुनीय सा॥
> रोषेण दारुणमनाः कथं मामनुशप्तवान्।
> मयि आराधनाचारं बुद्धरूपो जनार्दनः॥
> एक एव विजानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः।

अर्थात्—त्वं रोषेण मां कथमनुशप्तवान्। अहं चीनाचारं विना न प्रसीदामि। स चाचारः केवलेन बुद्धेनैव ज्ञायते। वशिष्ठस्तस्या देव्या वचः श्रुत्वा चीनाचारविज्ञान-वाञ्छया महाचीनदेशे गत्वा बुद्धसकाशात् तमाचारं प्राप्तवान्।

एवं च बौद्धतन्त्रेषु ब्राह्मणतन्त्रेषु च ताराया अक्षोभ्येण सह सम्बन्धो वर्ण्यते। यावत्यः प्रतिमा उपलभ्यन्ते, तत्र तारायाः शिरसि अक्षोभ्यस्य सूक्ष्मा मूर्तिर्दृश्यते। अक्षोभ्यश्च ध्यानिबुद्धानामन्यतमोऽस्ति। ब्राह्मणग्रन्थेषु प्राचीनतमेषु पुराणादिषु अक्षोभ्यस्य कस्याश्चन कथायां कस्मिंश्चिद्वा प्रकरणे सम्बन्धो न दृश्यते। महाशिव-

पुराणादिषु शैवपुराणेष्वपि 'अक्षोभ्य' इति संज्ञकः कश्चन देवो वर्ण्यमानो नोपलभ्यते। परन्तु तन्त्रग्रन्थेषु तारासम्बन्धितयाऽक्षोभ्यस्य वर्णनमुपलभ्यते। यथा तोडलतन्त्रे प्रथमपटले—

ताराया दक्षिणे भागे अक्षोभ्यं परिपूजयेत्।
समुद्रमथने देवि कालकूटं समुत्थितम्॥
सर्वे देवाः सदाराश्च महाक्षोभमवाप्नुयुः।
क्षोभादिरहितं यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्॥
अत एव महेशानि अक्षोभ्यः परिकीर्तितः।
तेन सार्द्धं महामाया तारिणी रमते सदा॥

समुद्रमथनावसरे कालकूटाख्यं विषं यदा निर्गतं तदा सर्वे देवा देव्यश्च क्षोभमवाप्नुवन्। परन्तु तद्भयंकरं विषं क्षोभरहितः शङ्करोऽपिबत्। अत एवासौ 'अक्षोभ्यः' इति सर्वत्र परिकीर्त्यते। तेन सह तारिणी तारा वा सदैव रमते।

एवं शक्तिसंगमतन्त्रेऽपि 'अक्षोभ्य' इति शिवस्यैवापरनामेति दृश्यते। 'शिवशक्तिसंवादे' इत्यस्य स्थाने 'अक्षोभ्यतारासंवादे' इत्यपि पठ्यते। (इति शक्तिसंगममहातन्त्रराजे-उत्तरभागे द्वितीयखण्डे श्रीमदक्षोभ्यमहोग्रतारासंवादे महाचीनक्रमो नामैकविंशतितमः पटलः)।

चीनाचारक्रमस्तारायाः पूजनार्थं ब्राह्मणैः स्वीकृतः। यतो हि महाचीनक्रमेणैव तारा शीघ्रफलप्रदा भवति।

महाचीनक्रमो देवि द्विविधः परिकीर्तितः।
सकलो निष्कलश्चेति सकलो बौद्धगोचरः॥
निष्कलो ब्राह्मणानां च द्वितीयं शृणु पार्वति।
(श० सं० २१।४)

तथा च महाचीनक्रमः सकलनिष्कलभेदेन द्विविधः। तत्राद्यो बौद्धैर्गृहीतो द्वितीयस्तु ब्राह्मणैः। सकलपद्धतौ शौचादेरपेक्षा नास्ति। तथा च चीनाचारविषये बुद्धवशिष्ठसंवादे बुद्धो वशिष्ठमाह—

अथाचारविधिं वक्ष्ये तारादेव्याः समृद्धिदम्।
यस्यानुष्ठानमात्रेण भवाब्धौ न निमज्जसि॥
स्नानादिर्मानसः शौचो मानसः प्रवरो जपः।
पूजनं मानसं दिव्यं मानसं तर्पणादिकम्॥
सर्व एव शुभः कालो नाशुभो विद्यते क्वचित्।
न विशेषो दिवारात्रौ न संध्यायां महानिशि॥

वस्त्रासन - स्थान - गेह - देहस्पर्शादिवारिणः।
शुद्धिं नाचरेत्तत्र निर्विकल्पं मनश्चरेत्॥
नात्र शुद्ध्याद्यपेक्षाऽस्ति न च मेध्यादिदूषणम्।
सर्वदा पूजयेद् देवीमस्नातः कृतभोजनः॥
महानिश्यशुचौ देशे बलिं मन्त्रेण दापयेत्।
स्त्रीविद्वेषो न कर्तव्यो विशेषात् पूजनं स्त्रियः॥

अर्थात् सकलाख्यचीनाचारे सर्वं स्नानादिककृत्यजातं मानसं भवति। तत्र सर्वस्य कालस्य शुभत्वात् समयादिविपयकनियमो नास्ति। अतः शुद्ध्यादेरपेक्षाया अभावः। कृतभोजनोऽपि देवीपूजनमधिकरोति। परन्तु ब्राह्मणैर्गृह्यमाणे निष्कलाख्ये महाचीनक्रमे शौचादेरपेक्षाऽस्ति। अतस्तन्त्रेपु प्रसिद्धस्य शिवस्यैव अक्षोभ्य इति नामान्तरम्। तथा शिव एव महायानेषु अवलोकितेश्वरः, तारा च तस्य शक्तिः। सा एव तारा शिवस्यापि शक्तिः। एवं चोभयोः सम्प्रदाययोरेवंरीत्या समानतायां न कमपि प्रतिबन्धकं पश्यामः। तथा चानया प्रणाल्या अक्षोभ्यस्य बुद्धत्वं सुतरां सिद्ध्यति। अक्षोभ्यस्य मन्त्रद्रष्टृत्वेन 'ऋपित्वं' क्षोभरहितत्वेन 'अक्षोभ्यत्वं' बुद्धस्य ज्ञानप्राप्तत्वेन बुद्धत्वं (ऋषित्वम्), अविचलासनमुद्रास्थिततत्वेनाऽक्षोभ्यत्वम्, अत एव कामविकारशून्यत्वं बुद्धस्य, शिवस्यापि स्पष्टतया तत्र तत्र गीयते। एवं चाक्षोभ्यो बुद्ध इति, तारा प्रज्ञापारमिता सर्वोच्चबुद्धिरिति वा (The higest knowledge revealed to him) अस्ति।

ताराया उत्पत्तिस्थानविषयकविचारः

"बुद्धिष्ट आइक्नोग्राफी" (Buddhist Iconograpy) लेखकेन श्री-गोपीनाथरावमहोदयेन ताराया दक्षिणदेशीयहिन्दुदेवीषु कथमप्युल्लेखो न कृतः, अतो दक्षिणदेशेन सह ताराया असम्बन्धात्, तत् तदीयमूलदेशत्वस्य कल्पयितुमप्यशक्यत्वात्, तन्त्रानुसारेण ताराया उत्तराम्नायसम्बन्धात्, सा निश्चयरूपेणोत्तरस्यां दिशि प्रादुर्भूता। एवं सति सा कुत्र प्रादुर्बभूवेतीदानीं विचार्यते। साधनमालायां यथापूर्वमुक्तमेक-जटास्तवनिर्मातुर्नागार्जुनस्य विपये—'एकजटासाधनं समाप्तम्, आर्यनागार्जुनपादैर्भोटेषू-द्धृतम्' इति दृश्यते। अत्र हि एकजटानुष्ठानप्रकारस्यार्यनागार्जुनपादैरुद्धारः कृत इति कथ्यते। उद्धृतशब्दस्य—'उद्-हृ हरणे' इत्यस्माद्धातोः क्तप्रत्ययान्तत्वेन निष्पन्नत्वात्, पूर्वप्रचलितस्यैव कालक्रमेण क्षीयमाणस्य पुनः स्थापनस्यैवोद्धारपदेनो-च्यमानत्वाज्ज्ञायते यदयमुद्धारो भोटेषु भोटमूलप्रदेशेषु कृत इति। तथा च एकजटा-देवीपूजकसम्प्रदाये कालक्रमेण क्षीयमाणे सति पुनरुद्धारः कृत इति कथनेनेत्थं ज्ञायते यत् तारोपासकसम्प्रदाय उत्तरस्यां दिशि भोटदेशे प्रागेवासीत्; तस्यैव नष्टप्रायस्य नागार्जुनेनोद्धारः कृतः। उपर्युक्तप्रमाणानुसारेण तारासम्प्रदायस्य भोटदेशीयत्वं सुस्पष्टम्। तत एव भारतवर्षे ब्रह्मणा प्रेषितो वशिष्ठश्चानयत्। स च देशो महाचीनो

वा भवतु चीनो वेत्यन्यदेतत्। वशिष्ठोऽपि वशिष्ठाख्यः सुप्रसिद्धो महर्षिस्तद्गोत्रो वा कश्चन ब्राह्मण इत्यन्यदेतत्। वशिष्ठविषये तारातन्त्रे रुद्रयामलादुद्धृता खल्वेका कथास्ति, यत्र ब्रह्मणोपदिष्टो वशिष्ठो वारत्रयं तारामाराधयत्। परन्तु सा न तुतोष। पश्चाच्छापं दातुमुद्युङ्क्तं मुनिं तारा स्वयमेवाविर्भूय प्रावोचत्—'अहं चीनाचारेणैव प्रसन्ना भवामि' इति। एवं श्रुत्वा वशिष्ठश्चीनदेशं गतवान्—

ततो गत्वा महाचीनदेशे ज्ञानमयो मुनिः।
ददर्श हिमवत्पार्श्वे साधकेश्वरसेविते॥

(तारातन्त्रोद्धृते ब्रह्मयामले, 2 पटले 2 श्लोकः)

जगाम चीनभूमौ च यत्र बुद्धः प्रतिष्ठितः।

(ता० तन्त्रोद्धृते रु० या० 17 पटले)

'साधकेश्वरसेविते हिमवत्पार्श्वे' इत्येतेन महाचीनदेशस्य हिमालयपार्श्ववर्तित्वं स्पष्टं प्रतिभाति। अपि च ब्रह्मयामलानुसारेण वशिष्ठः प्रथमं कामाख्यनामानं पर्वतं गतवान्, तत्र सफलतामप्राप्य ततश्चीनदेशमगमत्। एवं च चीनदेशो वर्तमान-चीनदेशस्यैकभागे 'तिब्बत'इत्याख्यप्रदेशो भोटदेशापरनामा भवितुमर्हति, यत्र च ताराऽधुनापि पूज्या लोकप्रिया चास्ति। नह्यत्र चीनपदेन वर्तमानस्यैव चीनदेशस्य ग्रहणं कर्तुं युक्तम्, तत्र तारासमुपासकसम्प्रदायस्य कदाप्यवर्तमानत्वात्। इत्थं च ताराया मूलस्थानं तिब्बतप्रदेश इति सुनिश्चितम्।

तिब्बतप्रदेशस्य तारामूलस्थानत्वेन निश्चीयमानत्वेऽपि कुत्र प्रदेशविशेषे सा प्रादुर्बभूवेति चेदानीं चिन्त्यते। स च प्रदेशविशेषो भारततिब्बतसमीप एव कश्चन भवितुमर्हति। स्वतन्त्रतन्त्रानुसारेण सा चोलनाख्ये महाह्रदे प्रादुर्भूता—

मेरोः पश्चिमकूले तु चोलनाख्यो ह्रदो महान्।
तत्र जज्ञे स्वयं तारा देवी नीलसरस्वती॥

(Quoted in the Archaeological Survey Report of Mayurabhanja. by N. N. Basu, Vol. I, P. XXXIV.

[मेरोः पश्चिमकूलस्थचोलनाख्ये महाह्रदे भगवती नीलसरस्वती तारा प्रादुर्बभूव]

जम्बूद्वीपमध्यस्थः कश्चन पौराणिकः सुमेरुर्मेरुर्वा पर्वतोऽस्ति। डाक्टर ए० एच० फ्रान्के (Dr. A. H. Francke) महोदयमतानुसारेण (see Vol. XXXVIII of the Archaeological Survey of India, P. 61) मेरु-स्तिब्बततुर्किस्तानयोर्मध्ये स्थितोऽस्ति, यत्र च कतिपये बृहज्जलाशयाः (lakes) शोमोरिरिप्रभृतयः (Thsomo Riri and M. Thsod–kar) सन्ति। तेषां तटेषु प्राचीनमठा वर्तन्ते। इदं नाश्चर्यकरं यत् तत्रस्था धार्मिकजनास्तादृशजलाशयो-त्तीर्णताप्राप्त्यर्थं सहायकत्वेन काञ्चन देवीं प्रकल्प्य पूज्यत्वेनाङ्गीकृतवन्तः। डा० ए० एच० फ्रान्केमहोदयोऽग्रे लिखति यत्—खालत्से (Khalatse) सविधे सिन्धु-

दक्षिणतटे काचन पर्वतोपत्यका (Rock) अस्ति। तस्या अधोभागे 'तार'संज्ञकः कश्चन ग्रामोऽस्ति। तत्रत्यानां जनानामयं विश्वासो यद् भगवत्यास्ताराया (Sgrolma) एकविंशतिरूपाणि द्रष्टुं शक्यन्ते। तानि च रूपाणि स्वयंभूस्वरूपाणि सन्ति। ताराभिव्यक्तिस्थानत्वेन ग्रामस्याऽपि मूलतः 'तारा' इति नामासीत्। कालक्रमेण तस्यैव ग्रामस्य 'तार' इति संज्ञा सञ्जाता। इदं चातीव मोदावहं यदा वयं तत्र मेरुस्थानं प्राप्नुमः, यच्चेदानीं 'मिरुः' (Miru) इत्युच्यते। तत्र च लघुपर्वतशिखरोपरि कश्चन प्राचीनतमो मठोऽस्ति। तत्र चैको व्यापारमार्गोऽपि विद्यते। एतत् सर्वं 'मेरोः पश्चिमकूले तु' इति स्वतन्त्रतन्त्रोद्धरणमस्मान् हठात् स्मारयति।

उपर्युक्तप्रकारेणैतन्निश्चितं भवति यत् तारोपासनापद्धतिर्लद्दाखस्य पार्श्वस्थे प्रदेश एव कुत्रचिदादावारब्धा। एतद्विषये इतिहासोऽपि संवादयति। सर औरेलस्टेन (Sir Aurelstena) इत्यादयो बहव ऐतिहासिकविद्वांसो महद्भिः प्रयत्नैर्बहुभिः प्रमाणैर्बौद्धधर्मप्रचारभूमिं तिब्बततुर्किस्तानप्रदेशे प्रतिपादयन्ति। फाहेन (Fahien, 399–415) सांग-यून-ह्वे-सेंगप्रभृतीनां (Song-yun, and Hwei-Seng A. D. 518–521) चीनयात्रिणां यात्रावृत्तान्तलेखा अप्यमुमर्थं द्रढयन्ति। ख्रिस्तीयसप्तमशताब्द्यां बौद्धधर्मोऽत्र सर्वोच्चस्थानं प्राप्नुवन् आसीत्। एकस्मिन् खोताने (in khotana) एव शतसंख्याका बौद्धमठा आसन्। तत्र च पञ्चशतपरिमिता बौद्धभिक्षवो भारतीयपवित्रधर्मग्रन्थाश्च प्रचुरमात्रायामासन्। अत एतज्ज्ञायते यद् बौद्धधर्मस्य मध्याह्नसूर्यः ख्रिष्टीयपञ्चमशताब्द्यामेव स्वीयं प्रकाशं तत्र विस्तारयामास। अस्मिन्नेव समये (युगे) ताराया उपासनाप्रकारस्तत्र प्रारब्धः। तारा लद्दाखप्रदेशात् शनैः शनैस्तिब्बतप्रदेशमागत्यातिप्रसिद्धिमाजगाम[1]। वेडेलमहोदय(Waddell)कथनानुसारेण विशुद्धमौलिकतारायाः स्तुत्यात्मकं 'धारणी'-रूपात्मकं वा परमप्रसिद्धं जनप्रियं च तिब्बतीयजनतायां प्रचलितं प्रारम्भिकपूजापुस्तकमस्ति। तस्य च 'स ग्रॉल-मैडकर स्नान-ग्यिब्स टॉड-पगज़ुन्स' (Sgrol-Madkar Snon-gyibs tod-pa gzuns) इति नामास्ति। परन्तु मूलतः सा आर्याणां मंगोलानां (of Mongolians) वासीदिति निश्चयेन वक्तुमशक्यं यद्यपि, तथापीदं तु निश्चप्रचं यत्तदानीं तत्प्रदेशे आर्या निवसन्ति स्म। पश्चात्–उरल-अल्टेन-जनैः (Ural-Altains) सह मिश्रणं सञ्जातम्। मूलतः सा न भारतीयेति तु निश्चितम्। (That she is not exactly Indian by birth seems to fairlly certain. see page 16 of origin end cult of Tara) नैपालदेशे तस्या जनतायां परमादराश्रयत्वाज्जनतामातृरूपत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात् तद्द्वारैव सा भारतवर्षं समागता।

---

१. See, Buddhism of Tibet (Lamaism), P. 339.

तारायाः मौलिकं रूपम्

ताराशब्दव्युत्पत्त्या 'तॄ प्लवनतरणयोः' धातोरस्य शब्दस्य निष्पन्नत्वेनायमर्थो लभ्यते—या स्वभक्तान् जलाद् आपत्तेर्वा तारयति सा 'तारा' इत्युच्यते। यैर्नामभिः सा तिब्बतचीनकोरियाजापानदेशेषु प्रसिद्धा, तेषामयमेवार्थः प्रायस्तत्तद्देशीयैरङ्गीकृतः। इदमपि सत्यम्—यः कश्चनापि पौराणिको धर्मग्रन्थप्रतिपादितो वा देवः स स्वकीयभक्तान् आपद्भ्यो रक्षत्येवेति सार्वजनीनम्, तथापि प्रत्येकदेवताया विशिष्टं कार्यं भवति यदर्थं साऽऽहूता स्यात्। तद् यथा हिन्दुपौराणिककथासु दृश्यते—मृत्युञ्जयोपासनया शिवस्तन्मन्त्रोपासकाय दीर्घायुर्ददाति, अतो हि स आयुःप्राप्त्यर्थमुपास्यते। मङ्गलग्रहश्च ऋणापनयाय, शीतला महामारीनिवृत्तये समुपास्यते (for getting rid of small pox)। मोहमदीयसम्प्रदाये (Khwaja Khijir) ख्वाजाखिजिरस्यावाहनं स्तवनं वा जलीयापत्तिनिवारणार्थम्, अलीमुरतजा (Ali Murtaza) महोदयस्यावाहनं भयंकरापद्रक्षणार्थम्। तत्रासौ स्वभक्तान् स्वप्रभावेण रक्षति। तथा च 'तारा' अपि स्वभक्तान् समुपासकान् जलीयविपत्तेस्तारयति, तदुपासका वा तादृशदुःखेभ्यस्तीर्यन्तेऽनयेति 'तारा'। सर्वज्ञमित्रकथावर्णनावसरे भिक्षुश्रीजिनरक्षितो लिखति स्रग्धरास्तोत्रटीकायाम्—'सरसि निमग्ना भगवतीप्रभावात् स्वं स्वं देशमुपजग्मुः'। या च देवता जलात्तारयति तस्या जलेन सहातीव सम्बन्ध इति तु स्पष्टम्। अत एव तारा ब्रह्माण्डपुराणे ललितोपाख्यानावसरे—'नौकेश्वरी' नौकानां स्वामिनीत्युच्यते। यतो हि सा रत्नमयीं नौकामध्यास्ते। सा जलौघशमनक्षमाऽस्ति। जले निमज्जतो जनान् रक्षितुं प्रवृत्तानामसंख्ययोषितामधिष्ठात्री तारास्ति। तारापरिचारिकाणां रूपस्य सामुद्ररूपतुल्यवर्णनेन तत्र (ब्रह्माण्डपुराणे) इत्थं ज्ञायते यत् समुद्रतरङ्गिण्य एव तद्रूपत्वेन कल्पिता यासां च तारा नियन्त्री। (Their colour is the colour of the Ocean and apparently they are the personification of Oceanic Waves whom Tara controls. (on 17 Page of The origin and cult of Tara. Verily she is the goddess whose aid an adventurer will seek for when he goes out in search of wealth to distant lands plunging his boats in to the wide and deep sea)। यदा कश्चन साहसिकजनो नौकया दूरदेशं धनाद्यर्थं गच्छति, तदा यस्याः कृपया साहाय्येन वा स जलधिपारं प्राप्नोति सा 'तारा' इत्युच्यते।

यद्यपि तन्त्रेषु नौकाधिष्ठातृदेवतारूपेण सा वर्ण्यमाना प्रायो नोपलभ्यते, तथापि विशालविस्तृतजलराशिस्थकमलोपरिस्थितिसम्पन्नतया वर्ण्यमाना साऽमुमर्थं सूचयत्येव। तस्या आवाहनं तन्त्रानुसारेण शास्त्रार्थादिप्रातिभकार्यावसरे विलक्षणबुद्धिवैभवादिप्रदर्शनार्थं भवति। तस्याः कृपया विलक्षणा गद्यपद्यमयी वाणी निस्सरति। अत्रेदं तथ्यं यत् साधकाः शीघ्रकृपासमुपलब्ध्यर्थं तां पूजयन्ति, अतो नालन्दायामुपलभ्यमानमूर्तौ यो मन्त्र उपलभ्यते, सोऽपीममेवार्थं द्रढयति—

"ॐ तारे तु तारे तुरे स्वाहा"

त्वरा शीघ्रार्थकः शब्दः, तस्यैव 'तुरे' इति रूपान्तरम्। चालुक्यसम्राट् त्रिभुवनमल्लषष्ठविक्रमादित्यकालिक(A. D. 1096)समुपलभ्यमानशिलालेखस्था इमे श्लोका अपि प्रकृतमर्थमुपोद्‌बलयन्ति—

(क) हरिकरिशिखिफणितस्करनिगलजलार्णवपिशाचभयशमनि।
शशिकिरणकान्तिधारिणि भगवति तारे नमस्तुभ्यम्॥

(ख) पाथः पार्थिववह्निपूगपवनप्रख्यातभीत्याकुल-
प्राणत्राणविधानलब्धकरुणाव्यापारचिन्तातुरा।
प्रोद्यत्तस्करसिन्धुसिन्धुरहरिव्यालादिशङ्कापहा
तारा तूर्णवितीर्णवाञ्छितफला पायात् सदा संगमम्॥

(क) सिंहहस्तिवह्निसर्पचौरनिगडजलसमुद्रपिशाचजन्यभयविनाशिके चन्द्रकिरणकान्तिधारिणि अयि भगवति तारे तुभ्यं नमः॥

(ख) या नृपाग्निज्वालावायुजन्यभयग्रस्तप्राणिरक्षणपरायणा, सिंहचौरजलगजादिभयविनाशिका च, अथ च या तूर्णमेवाभिलषितफलं वितरति सा सदा संगमत्राणं करोतु॥

अत्र हि भगवत्यास्ताराया बौद्धमतप्रसिद्धाष्टभयेभ्यो रक्षिकात्वेन तूर्णफलप्रदातृत्वेन च प्रदर्शनं मन्त्रार्थं संवादयत्येव। अतस्तारा समुद्रादिजलजभयत्रातृरूपतया प्रधानदेवतेत्यत्र नास्ति संदेहलेशावकाशः। (I think it stands to reason that the composer of the prasasti thought Tara to be the chief deity concerned with the safe crossing of waters. The origin and cult of Tara, P. 18) बौद्धपौराणिकगाथानुसारेण मूर्त्तिकलायां प्रदर्श्यमानानि पोतविनाशभयसूचकचिह्नानि यावद्विपत्तिप्रतिनिधिभूतानि तारायाः पादतले दृश्यन्ते, एतावता भवसागरात् चतुरशीतियोनिरूपजन्ममरणचक्राद्वा तारा स्वभक्तान् रक्षतीति गम्यते, अत एव सा शाश्वतमोक्षप्रदा, अत एव तस्या अर्चनादिकं नहि केवलप्रेयःप्राप्त्यर्थमपि तु श्रेयःप्राप्त्यर्थमपि साधनमस्ति। इत्थं सा भवविमोचिनी सञ्जाता, जन्ममरणभवभयहारिणीत्वेन 'तारिणी' इति नाम्नोऽपि सार्थक्यम्। सा ज्ञानसमुद्रात् प्रादुर्भवति, ज्ञानार्णवमन्थनात् समुदिता, भवतापदुःखशमनी, सा वास्तविकज्ञानरूपा प्रज्ञापरपर्याया वा सैव खलु परनिर्वाणं ददाति, 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

इत्थं वयं ज्ञातुं शक्नुमो यत् सा चोलनामकमहाह्रदादाविर्भवति, जलाद् बहिर्भवत्कमलोपरि स्थिता चास्ति। सा अम्भसां वृद्धिं नियच्छति स्वभक्तांश्च जलार्द्रपूर्णतया रक्षति। सा तारिणी शक्तिर्या चाद्‌भ्यः पारं करोति। वस्तुतो यस्याः कृपया समुद्रयात्रा निर्विघ्ना भवति, अनया प्रणाल्या पूर्वोक्तस्वभाववशात् सा नौकेश्वरीत्वं

प्राप्नोति। मूलतस्तस्या आवाहनमनायासेन जलोत्तरणाय नौकानां महाह्रदात्तरणाय वा, यत्र तस्याः पूजापद्धतिः समुद्भूता। शनैः शनैः कालक्रमेण समयाऽतिक्रमे सा समुद्रपोतादियात्रावसरेऽपि वन्दनीयत्वादिकमाप्नोत्। ये पुनः संसारमुमुक्षवो भक्तास्तेषां कृते सा भवमोचनी संजाता। ते च संसारस्य रूपकतयाऽब्धित्वं विपदां चोत्तालतरङ्गत्वं मानवशरीरस्य नौकात्वं प्रकल्पयन्तस्तां भवार्णवोद्धारकर्त्रीत्वेनोपासन्ते। अस्मिन् विषये बौद्धगाथासु हिन्दुतन्त्रेषु च न कश्चन विरोधावसरः प्रत्युत समानतयाऽनुकूलतैव।

तारोपासनायाः प्रारम्भः

अथेदानीमैतिहासिकरीत्या ताराया उपासनापद्धतेः प्राथमिकप्रारम्भविषये किञ्चिद्विचार्यते। तारा मूलतो महायानबौद्धानां देवीत्यत्र नहि कश्चन विवादावसरोऽस्ति। सा बोधिसत्त्वावलोकितेश्वरस्य शक्तिरित्यपि सुप्रसिद्धम्। अस्य बोधिसत्त्वस्य सम्प्रदायः कदा प्रारब्ध इतीदानीं वक्तुं न शक्यते, तथाप्यद्यावधि समुपलब्धप्रमाणैरिदं तु निश्चितं यदस्य सम्प्रदायस्य ख्रिष्टीयशताब्द्याः प्रागस्तित्वं नासीत् (In all probability, it does not go back beyond the early centuries of christion era, page 19. The origin and cult of Tara.)।

इदं तु निश्चितं यन्मूलत आदाववलोकितेश्वरस्य काचन शक्तिर्नासीत्, यतो हि लक्ष्मणपुरविचित्रालये (In the Lucknow museum) प्रदर्श्यमानायामवलोकितेश्वरप्रतिमायां (Forth A. D.) तारायाः सम्बन्धलेशगन्धोऽपि नोपलभ्यते। (see memoir No. XI.)। अतो ज्ञायते यदीशवीयचतुर्थशताब्द्याः प्राक्तारा जनतायामज्ञाताऽऽसीत्। गान्धारदेशीये ग्रएकोसम्प्रदाये (Grarco-Buddhist school) अपि साऽपरिचिता आसीत्। तारास्तित्वज्ञापकानि सम्भवतः प्राचीनतमाकृत्यात्मकचिह्नानि नासिक–एलोरा–कान्हेरी(Nasik, Eilora, kanheri etc.)प्रभृतिबौद्धगुहासु यानि समुपलभ्यन्ते, तानि षष्ठशताब्दीमेवावरुन्धन्ति। इदं सर्वं पूर्वमुक्तम्। यदि च "आर्यनागार्जुनपादैर्भोटपूद्धृतम्" इत्यस्य साधनमालोक्तस्य प्रामाण्यम्, तदा तारापूजापद्धतेः ख्रिष्टीयशताब्द्याः प्रागस्तित्वमवश्यमङ्गीकर्तव्यं भवति। यतो हि नागार्जुनैस्तारासम्प्रदायस्य भोटपूद्धार एव कृतो न तस्य प्रारम्भः।

अपि च बुद्धसमये 'सङ्घे' योषितां प्रवेशप्रश्नविषये बुद्धो विरुद्ध एवासीत्। अत एवानन्दप्रार्थनया तदीयविमातृप्रवेशस्य यद्यपि बुद्धेनैवाज्ञा प्रादायि, तथाप्युद्घोषितं यद् धर्मः सङ्घो वा शीघ्रमेव नङ्क्ष्यति। सा घोषणा च सत्यैवाभूत्। यदि च बौद्धधर्मसंस्थापकस्य बुद्धस्य योषितां विषये ईदृशी कठोरतमा दृष्टिः, कथं नाम तस्मिन् धर्मे तदीयसमय एव तारादिशक्तीनां पूजापद्धतिरादरणीया स्यात्। गान्धार-

देशीय'ग्र-एको'संज्ञकबौद्धसम्प्रदाये यद्यपि कासाञ्चिद् देवीनामुपासनाविषयो वर्ण्यमानः समुपलभ्यते, तथापि तत्र तारायाः सर्वथैव स्थानं नास्ति, अतो ज्ञायते यत्ताराया उपासनापद्धतेस्तदीयोपासकसम्प्रदायस्य वा प्रादुर्भावः ख्रिष्टीयपञ्चम-शताब्द्या अनन्तरमेवाभूत् । यदि चैवं तदा माध्यमिकसम्प्रदायप्रवर्तकनागार्जुन-सम्बन्धोल्लेख एकजटाख्यतारासम्प्रदायोद्धारकर्तृत्वेन तत्सम्प्रदायस्य प्रतिष्ठावर्धनार्थ-मेव कृत इति कल्प्यते ।

अतो बौद्धसम्प्रदायेषु शक्तिपूजा सम्भवतः षष्ठशताब्द्यां प्रारब्धा । अस्या विचारधारायाः प्रादुर्भावस्तिब्बतमंगोलप्रभृतिदेशेषु सञ्जातः, यतो हि तत्रत्या जना विचारयन्ति स्म यदि देवाः शक्तिविशिष्टाः पूजिताः स्युस्तर्हि प्रसन्ना भवेयुः । परि-णामतः प्रतिदेवमेका शक्तिर्निश्चिताऽभूत् । इयं च प्रणाली याब्यूमपदेन व्यपदिश्यते (Yabyum), इत्थं च पूर्वोक्तप्रकारेण 'यो चुंग' (Yuan Chuan) प्रभृतियात्रा-वृत्तान्तलेखानुसारेण च ज्ञायते यद् भौटदेशात् ताराया नेपालदेशे आगमनम्, ततो भारतवर्षे मगधादिदेशेषु तस्याः प्रचारः । तत्रापि नालन्दायां प्रधानशक्तिरूपेण पूज्या सा समभवत् । ततश्च कलिङ्गदेशे गता, ततो यवद्वीपादावपि तस्याः प्रचारः संजातः । ख्रिष्टीयसप्तमशताब्द्यां यदा तन्त्राणां प्रचारसूर्यो मध्याह्नं स्पृशति स्म, तदा ब्राह्मणैरपि स्वधर्मे तां समानीय द्वितीयमहाविद्यारूपता तस्यै प्रदत्तेति ।

एवं हिन्दुतन्त्राणां बौद्धादितन्त्राणामाधुनिकानामैतिहासिकानां च दृष्ट्या ताराविषयका विभिन्ना विचारा अत्र प्रदर्शिताः । प्रथमं शक्तितत्त्वस्य श्रुतितन्त्र-पुराणादिप्रदर्शितं स्वरूपमुपवर्ण्य दशमहाविद्यानां प्रादुर्भावक्रमं समुन्मील्य तारायाः स्वरूपम्, उपासनाविधिम्, तस्या भेदोपभेदान्, महाचीनक्रमादिकं च विस्तरेण प्रतिपाद्य अक्षोभ्यतारासंबन्धो मतभेदेन युक्तिपुरस्सरं साधितः । अनया वाङ्मय्या पूजया दशमहाविद्यासु प्रथिततमा भगवती तारा प्रसीदतुतरामित्यलमनल्पजल्पनेन ॥
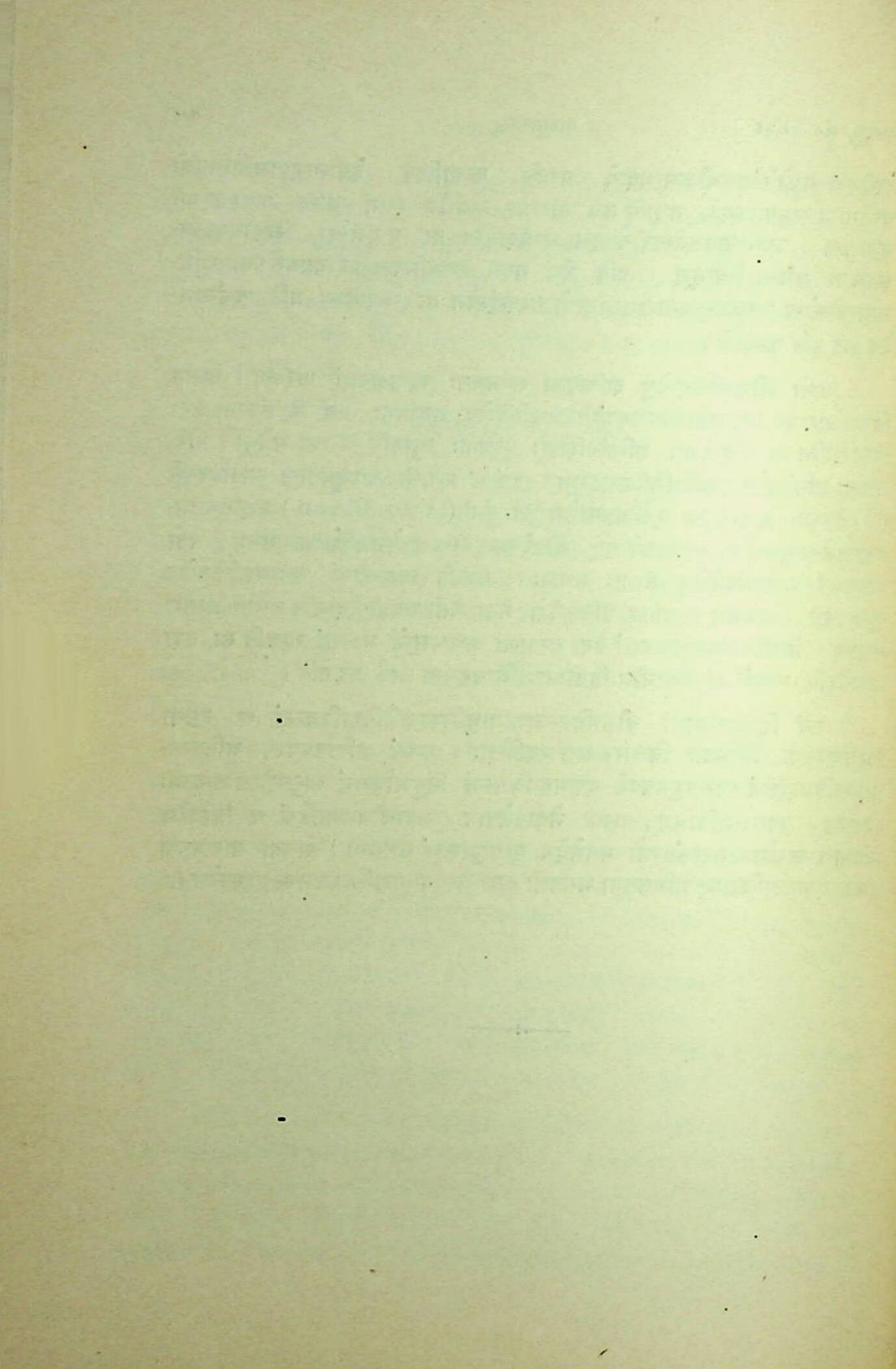
शिव-योग और षट्स्थल-सिद्धान्त

एन. एच. श्रीचन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसन्धाता, योगतन्त्रविभाग, वा० सं० वि० वि०, वाराणसी।

प्रस्तावना

शैव-शाक्त तन्त्रों की साधन-धारा को प्रामाणिक मान कर अनन्त प्रकार की साधन धारायें अपनी एक विशिष्ट प्रणाली का आश्रय करके विकसित हुई हैं, जिनका उपागम धारा के नाम से कहीं कहीं उल्लेख किया जाता है। वीरशैव सम्प्रदाय विशेषतया साधन-प्रधान है। इस साधन का लक्ष्य है—शिव-योग की प्राप्ति। शिव-योग की आलोचना के प्रसंग में संक्षेप में परमात्म-स्वरूप एवं सृष्टि-धारा की आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

परमात्मा का स्वरूप

मूल स्वरूप को स्थल, महालिंग, परमशिव, शून्यलिंग इत्यादि नामों से कहा जाता है। वह एक अखण्ड वस्तु है, जिसके विषय में इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कह सकते। किन्तु अनुभूति-दशा में जिस परम वस्तु का बोध होता है, उसको व्यक्त करना आवश्यक है। अतः जिसका आदि अन्त नहीं है, जिसे शून्य एवं निःशून्य भी नहीं कह सकते, ऐसी एक अवस्था मूल में माननी पड़ती है। जिसके केन्द्र में चेतनाचेतनात्मक समग्र विश्व उत्पन्न होकर लीन होता है, उसी को स्थल कहा जाता है। यह तत्त्व एक व्यापक, सच्चिदात्मक, निरन्तर नदनशील है। इसी को सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से सकल[1] एवं निष्कल कहते हैं। इसी को विश्वतश्चक्षु, विश्वतोबाहु कहा जाता है। विश्वतश्चक्षु और विश्वतोबाहुत्व ही विश्वात्मभाव है। योगीजन अप्रमाण, अगम्य आदि शब्दों से विश्वोत्तीर्ण अवस्था का संकेत करते हैं। अत एव सर्वशून्य निरालम्बलिंग, जो पहले संकल्प अथवा स्वातंत्र्ययुक्त भी नहीं था, वही स्वात्मलीला से अपने में उपास्य-उपासकभाव प्राप्त कर सृष्टिस्वरूप बन जाता है।

सृष्टि का सामान्य स्वरूप

मूल वस्तु जो पूर्ण है, जिसे सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं, जिसमें मूल वस्तु स्वयं सृष्टि स्वरूप बन जाती है, तथापि यह परम वस्तु अखण्ड ही है। प्रपंच से

---

१. सकल निष्कल से युक्त होकर सकल भी तुम हो निष्कल भी तुम हो। विश्वतश्चक्षु विश्वतोबाहु तुम हो, कुण्डल संगमदेव (बसवेश्वर बचन)।

अतीत एवं जो विभाग रहित है, वह स्वयं विभागों को स्वीकार करके अपने आनन्द के लिये अर्थात् विनोदार्थ, लीला से, शिव-शक्ति के रूप को धारण कर लेता है। अनन्त वैचित्र्य या नानात्व इसका स्वभाव है। एक परम वस्तु दो हुये बिना नाना कैसे बनेगी ? अत एव जिस प्रकार बीज पहले द्विधा विभक्त होकर पश्चात् विविध काण्ड, शाखा, पत्रादि से समन्वित महावृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार एक अखण्ड महालिंग से क्रमशः शिव-शक्तिमिथुन एवं उनसे अनन्त विश्व वैचित्र्य का निर्माण होता है। वही बाहर आकर अनन्त लिंग स्वरूपों में प्रकट होता है।

सृष्टि-क्रम

शिव-शक्ति के अनन्तर उनमें नाना बनने की इच्छा हुई, तभी अनन्त पिण्डों का सृजन हुआ। वस्तुतः परमशिव स्वयं जीवरूपी अभिनेता बनकर संसाररूपी आवरण पहनता है। स्थल, शून्य, निःशून्य, निरालम्ब एवं लिंगपद्वाच्य पूर्ण वस्तु जीवावस्था को किस प्रकार प्राप्त करता है, इस विषय में वीरशैव मत साधारणतया शैवागमों की विचारधारा को स्वीकार करता हैं। जब यह निकले, तब उन्हें अपना स्वरूप विस्मृत हुआ। निद्रितावस्था से जग गये तो स्वप्नावस्था में अपने को परिच्छिन्न अवस्था में 'मैं अणु हूँ' यह बोध उत्पन्न हुआ। मैं अणुरूपी आत्मस्वरूप हूँ, एवं मैं परम सत्ता का अंशस्वरूप हूँ, इस प्रकार के बोध के पश्चात् मैं परम सत्ता से अलग हूँ, यहीं शुद्ध पिण्डाण्डस्वरूप का बोध है। जब काल एवं माया में अहंभान आया, अर्थात् काल एवं माया ही अपना स्वरूप हैं, इस बोध का उदय जब हुआ, अर्थात् अपने शुद्धस्वरूप को भी भुलाकर देहोऽहं कह कर मिथ्या पिण्ड में पिण्ड हूँ यह भ्रान्ति होने लगी, तभी माया-सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। यही माया अपने संकल्प से प्राणादिकों की सृष्टि करती है।

पिण्ड अथवा पशुभाव

इस माया के प्रभाव में आने के कारण अब पशु कहलाने लगा। अर्थात् मिथ्यापिण्ड में क्रमशः ब्रह्मा (सत्त्व), विष्णु (रजस्), रुद्र (तमस्) रूपी त्रिगुणात्मक इस मायिक शरीर में 'मैं हूँ' इस प्रकार के बोध के कारण साधारण संसारी जीव बनकर भोगासक्त होकर कालचक्र में घूमने लगा। वस्तुतः यह जो जीवावस्था है, वह मूलस्वरूप के दृष्टि की लीला है। वस्तुतः मलसम्बन्ध ही जीवत्व है। जीव नाना किस प्रकार बन गये, इसके उत्तर में वीरशैवाचार्यों का कथन है कि एक ही तत्त्व जो शिव एवं शक्तियुक्त है, वह नाना बन जाता है और तब वह अनन्त अणु कहा जाता है। यही आत्माओं का स्वरूप है। यह अणु शुद्ध है। इन अणुओं

की इस सम्प्रदाय में 'पिण्ड' आख्या है। यह शुद्ध पिण्ड आगे चलकर माया और काल के अधीन बद्ध होकर जीव बन जाता है। अशुद्ध जीव की अवस्था गुरूपदेश के पश्चात् शुद्धि को प्राप्त होती है और तभी जीव निवृत्ति मार्ग पर चलने के लिये योग्य बनता है।

इस लेख में हम केवल शिवयोग साधना एवं उसका विशेष विवरण दे रहें हैं। इस प्रसंग में मूल वस्तु किस प्रकार जीव अवस्था तक आई, इसका विवरण देना उचित समझते हैं। परम वस्तु अपने आनन्द से जीव बन गया है।

अब प्रश्न इस बात का उठता है कि जीवावस्था प्राप्त कर अब जीवदृष्टि से अर्थात् अज्ञानता के कारण अपने स्वरूप को खोकर परिच्छिन्न बोध में है, इस बहिर्मुख भाव के कारण जो दुःख हो रहा है और जो पशुभाव उत्पन्न हुआ है, इस बन्धन से मुक्त होने का क्या रास्ता है ?

एतत् सम्प्रदायगत सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कुछ विमर्श करना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः अनन्तकोटि जीवराशि में इतने दुःख में पड़ने पर भी, अन्तर्मुखात्मक प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ? अन्तर्मुख प्रवृत्ति के लिये क्या कारण है ? अन्तर्मुख प्रवृत्ति के कारण ही जीव में अपने भोग की परिसमाप्ति के बाद अन्तर्मुख प्रवृत्ति जाग्रत् होती है और तदनन्तर ज्ञानोदय होता है। विषयाभिमुख चित्त कब विषयों से विमुख होगा ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित है —[1]आचार्य प्रभुदेव जी कहते हैं कि अन्तर्मुख होने के लिये विषयों से किसी प्रकार पराङ्मुख होने से अथवा संसार-ताप से दुःखी होकर अपने आप सजग हो जाना संभव है। वस्तुतः तीव्र संवेग ही इसमें कारण बनता है।

कर्मसाम्य एवं मलपाक

[2]प्राचीन आचार्य कर्मसाम्य एवं मलपरिपाक सिद्धान्त को मानते हैं। कर्म-साम्य का मतलब है कर्म का फल अवश्यंभावी है। अत एव जब तक कर्म में विषमता रहेगी, तब तक कृपा अर्थात् अन्तर्मुख गति सम्भव नहीं है। अत एव सत्कर्म और असत्कर्म दोनों कर्म जब सम हो जायँगे, तो पुनः नूतन कर्मों की उत्पत्ति न हो सकेगी। मलपरिपाक होने पर भी कृपा का अवतरण होता है। यद्यपि मलपाक काल-सापेक्ष है, अर्थात् मल के परिपक्व होने के लिये समय की आवश्यकता है; तथापि यह सामान्य नियम होने पर भी विशेष कृपा में मलपरिपाक का प्रश्न नहीं उठता।

---

१. प्रभुदेव वचन, गुरु का रूपस्थल, पृष्ठ ३८, व स० ५२

२. स्वकर्मपरिपाकेन प्रक्षीणमलवासनः।
शिवप्रसादाज्जीवोऽयं जायते शुद्धमानसः ॥ (सि० शि० वी० शा० ५।५२)

कर्मसाम्य में पौरुष सहायक बनता है, क्योंकि भोग से विषय की निवृत्ति सम्भव है। अत एव प्रथमतः यह पिण्ड क्या है इस प्रकार की आशंका उदित होनी चाहिये। तभी गुरु का अन्वेषण प्रारम्भ होगा।

गुरुतत्त्व एवं गुरुकृपा

यथार्थ गुरु की प्राप्ति होते ही अर्थात् गुरुकरुणा होते ही साधना का द्वार खुलता है। अन्यथा साधना का अधिकारी ही नहीं बन सकता। श्रद्धा एवं विश्वास के साथ शिवयोगी गुरु का अन्वेषण करना पड़ता है। मनुष्य गुरुकृपा अथवा परम-शिव की कृपा के बिना इस पथ में आने की इच्छा नहीं कर सकता। यह बात मूल में ग्रहण कर लेना चाहिये।

मोक्षेच्छा का उदय और दीक्षा

गुरु जब यथार्थ दीक्षा देता है, तो कुण्डलिनी का जगरण प्रारम्भ हो जाता है। मायिक देहधारी गुरु जो सदैव सामरस्य स्थिति का अनुभव करके शिवयोग-लीला में लीन है, शिष्य को अष्टावरण मुक्त करके क्रिया-मार्ग की साधना प्रारम्भ कराता है।

उपास्य-उपासकभाव अथवा लिंगांग

दीक्षा से जिस शुद्ध स्वरूप को प्राप्त किया, वही शुद्ध स्वरूप अंग के नाम से प्रसिद्ध है। अत एव अंग एवं लिंग इन दोनों को उपास्यउपासकभाव के लिये जो भेद हो गया है, उसी अंग एवं लिंग के विधान में सामरस्य की प्राप्ति इस षट्स्थल का परम रहस्य है। जब लिंगांग सामरस्य अवस्था में रह कर अपना व्यवहार करता है, तब इसके व्यवहार को लिंग[1] 'लीलाविलास' कहा जाता है। इसकी दृष्टि में विश्व अपना स्वरूप है। यह सदैव विश्व को लिंगस्वरूप में देखता है, यही लिंगदृष्टि अथवा शिवदृष्टि कहलाती है। आरोहण एवं अवरोहण क्रम से प्रथमतः ऐक्य-स्थल तक जाकर अनुभव करने पर ही इसका विश्लेषण किया जा सकता है। अत एव षट्स्थल के अवतरण को समझना चाहिये।

लिंग एवं अंगगत शक्तियाँ

मूलतत्त्व जो स्थलपदवाच्य है, यह अपने लीलाविनोद से उपास्य एवं उपासक रूप धारण कर लेता है। उपास्य लिंग एवं उपासक अंग बन जाता है। यह द्वैविध्य युगपत् अभिव्यक्त होता है। यह ध्यान देने की बात है कि दोनों

---

१. अनुभवसूत्र, द्वि० अ० श्लो० १२, १९

शक्ति में रहते हैं। यह उच्चतम दशा है। वस्तुतः शक्ति पूर्णरूपेण शुद्ध स्वरूप वाली नहीं है, क्योंकि वह विकास क्रम को आश्रय करके विश्व स्वरूप बन रही है।

लिंग गत शक्ति एक दृष्टि से बहिर्मुख होने वाली शक्ति है, किन्तु अंगगत शक्ति जो भक्ति शक्ति कहलाती है, अंग के साथ है और शुद्ध स्वरूप वाली है। शुद्ध शक्ति ही ऐक्यावस्था तक भेजी जाती है। अत एव लिंगगत कलाशक्ति से अंगगत भक्तिशक्ति का अधिक महत्त्व है। यथार्थ दृष्टि से इस भक्ति एवं शक्ति में कुछ भेद नहीं है। जिस प्रकार महाज्वाला से अलग-अलग दीप जलाने पर अनन्त प्रकार के अलग अलग दीप दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भक्ति एवं शुद्धदीप लिंग (ज्वाला में) है। भक्तिरूपी शुद्धदीप है और लिंगरूपी दीपक। जिस प्रकार ज्वाला में धूम्र रहता है, उसी प्रकार वासना रहने के कारण सृष्टि आदि का कारण बन जाकी है। अत एव शक्ति को प्रवृत्तिपरक एवं भक्ति को निवृत्तिपरक कहा जाता है।

ऊपर चर्चित विषय का सरलता से बोध कराने के लिये यहाँ पर एक तालिका दी जा रही है—
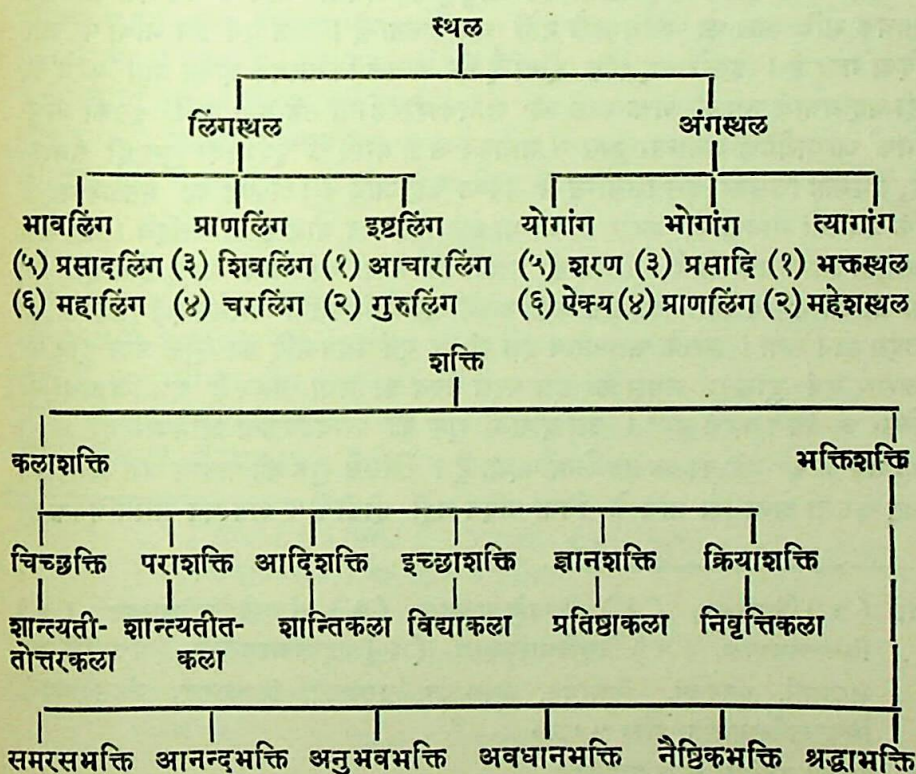
भक्ति और भक्त

प्रवृत्ति एवं निवृत्ति को ही क्रमशः अवरोह एवं आरोह कहा जाता है। अवरोह क्रम में लिंग एवं अंग प्रथमतः तीन प्रकार से विभाजित होकर छः बन जाते हैं। इस आरोहण एवं अवरोहण क्रम से इनका क्रम की दृष्टि में कुछ फरक अवश्य पड़ता है। सिद्धान्त की दृष्टि से अवरोहण क्रम ही दिया जाता है। साधक आरोहण क्रम से अपने अनुभव को क्रमशः व्यापक बनाते हुये ऐक्य स्थल तक जब पहुँच जाता है, तो उसको शिवयोगी कहा जाता है। इसी अन्तिम प्राप्ति को अंग दृष्टि से ऐक्य एवं लिंग दृष्टि से महालिंग की प्राप्ति कहते हैं। वस्तुतः भक्ति द्वारा अंग भाव से ऐक्यस्थल तक,[२] अर्थात् अंगभाव में युक्त होकर भक्ति को पकड़ कर लिंग के साथ सामरस्य करते चलना ही लिंगांग सामरस्य कहलाता है। अंग अथवा साधक का कर्तव्य लिंगानुसंधान करना है। इस लिंगानुसंधान का प्राथमिक स्वरूप अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और सद्भावों का उदय होना आवश्यक है। अत एव इनको सिद्धान्त शिखामणिकार[१] प्रथम स्थल के (भक्ति-स्थल के) अवान्तरस्थल मानते हैं। कुछ भी हो, भक्ति-स्थल के पूर्वभावी इस अनुभूति अथवा भाव के विकास के बिना साधक भक्ति-स्थल का अधिकारी नहीं बन सकता है। अत एव इन भावों पर जोर दिया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि केवल क्रियात्मक दीक्षा प्राप्त करने पर ही वह यथार्थ रूप में भक्त स्थल का अधिकारी होगा यह बात नहीं, इसको आधुनिक[२] आचार्यगण अवान्तर स्थल न मानकर भक्त बनने के पूर्वभावी गुण ही समझते है, प्रथमतः जिसको इस सिद्धान्त में पिण्ड कह आयें हैं। पिण्ड का मतलब यह है कि प्रथमतः साधक को 'शरीर से आत्मा अलग है' यह बोध होना चाहिये। यह बोध वस्तुतः ज्ञानात्मक ही है। इतना ही नहीं, इस प्रकार का बोध उत्पन्न होते ही देह में जो आत्मबोध रहा, वह हट कर उसमें स्वाभाविकतया आत्मस्वरूप जिज्ञासा का उदय होने लगा। इसके फलस्वरूप इस संसार एवं विषयादि को गुरु प्राप्त होने पर असार एवं दुःखपूर्ण समझ कर इस परम तत्त्व का क्या स्वरूप है इस जिज्ञासा को लेकर अन्वेषण करने लगा। उस दशा में गुरु की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है, तब जाकर गुरु का आश्रय लेना पड़ता है। जिससे गुरु की करुणा जग जाती है। यह करुणा अन्तर्मुख भाव के बिना उदित नहीं होती है। अत एव आत्मविवेक ही

---

१. (१) पिण्डस्थल, (२) पिण्डविज्ञानस्थल, (३) संसारहेयकदीक्षास्थल, (४) लिंगधारणस्थल, (५) विभूतिधारणस्थल, (६) रुद्राक्षधारणस्थल, (पंचाक्षरी जप, भक्तमार्ग, गुरुवचन, लिंगार्चन, जंगमार्चन, गुरुप्रसाद, लिंगप्रसाद, जंगमप्रसाद), सिद्धान्तशिखामणि, परि० ५। २७

२. प्रभुदेव बसवेश्वर बचन इत्यादि।

कारण है, अर्थात् तीव्रसंवेग अथवा मलपरिपाक ही कारण है। वस्तुतः आत्मविवेक और देह से आत्मस्वरूप अलग है, यह बोध गुरुकरुणाजन्य है।

गुरुदेव कृपा करके [1]अष्ट आवरण एवं पंच आचार का उपदेश देकर अष्ट आवरण रूपी कंचुक पहनाते हैं। साधक के लिए आवरण रहस्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इन आवरणों में कुछ अन्तरंग और कुछ बहिरंग साधन हैं। बहिरंग साधन अन्तरंग साधन की तरफ ले जाते हैं और शिष्यभाव को जाग्रत् कर देते हैं। धारणा से अन्तरंग साधना प्रारम्भ होती है। अत एव सिद्धान्त-शिखामणि में अन्तरंग लिंगधारण के ऊपर जोर दिया गया है। अन्तरंग ज्योति-स्वरूप लिंगानुसन्धान करना चाहिये। [2]आधारादि स्थानों में विभिन्न वर्णों की धारणा एवं भ्रूमध्य में स्फटिक वर्ण के लिंगस्वरूप की भावना करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार धारणा के साथ जपप्रक्रिया का आश्रय कर बोध का विकास करना पड़ता है। शुद्ध बोध, गुरु मे श्रद्धा एवं इष्ट में भक्ति सब मिलकर साधक को भक्ति-स्थल का अधिकारी बनाते हैं। भक्तिस्थल में प्रवेश करते ही शुद्धविद्या का उदय होता है। इसके उदय के फलस्वरूप भाव में परिवर्तन प्रारम्भ होता है। अत एव शुद्ध भाव का आश्रय कर साधक प्रथमतः पंच ज्ञानेन्द्रिय और पंच कर्मेन्द्रियों की लिंगमुखार्पण भाव से साधना करता है। अत एव इसके ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय वस्तुतः चैतन्य से अतिरिक्त कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार जब अभेदात्मक भाव का उदय होता है, तब उसी अभेदात्मक भाव से परिपूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होती है। यहाँ पर भक्ति भाव से सामरस्य तक का क्रमिक विकास का विचार किया जा रहा है।

षट्स्थल

भक्त, महेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंग, शरण और ऐक्य यही षट्स्थल कहलाते हैं। भक्त स्थल से ऐक्यस्थल तक पहुँचना ही पूर्णत्व की प्राप्ति कहलाती है। इन छै स्थलों में पुनः अवान्तर विभाग शास्त्रों में दिखाये गये हैं। षट्स्थल के विवरण में 'सर्वं सर्वात्मकं' न्याय को ग्रहण किया जाता है। अर्थात् भक्तस्थल में ऐक्यस्थल और ऐक्यस्थल में भक्तस्थल विद्यमान रहता है। इस स्थल का दो दृष्टि से

---

१. (१) गुरु, (२) लिंग, (३) जंगम, (४) पादोदक, (५) प्रसाद, (६) विभूति, (७) रुद्राक्ष, (८) मन्त्र।

२. आधारे हृदये वापि भ्रूमध्ये वा निरन्तरम्।
ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानामान्तरं लिङ्गधारणम्॥
आधारे कनकप्रख्यं हृदये विद्रुमप्रभम्।
भ्रूमध्ये स्फटिकच्छायं लिङ्गं योगी विभावयेत्॥

(शि० सि० ६।१८–१९)

विचार किया जाता है। लिंगदृष्टि से अथवा उपास्यदृष्टि से। दूसरा अंग अथवा उपास्य दृष्टि से अवरोहण एवं आरोहण क्रम बनता है। इसका चरम काम है सामरस्य। अत एव सामरस्य से तात्पर्य है महालिंग स्वरूप की प्राप्ति। अपने अंगगत अस्तित्व को साधक एकाकार करके भी रखता है। यदि इस प्रकार स्वात्मस्वरूप को खोकर साधक एक हो जायगा तो रसास्वादन कौन करेगा? अतएव वह सामरस्य अवस्था को प्राप्त करने पर भी अपने स्वरूप को नहीं भूलता। साधक को अपने स्वात्मस्वरूप में लिंगरूप से विश्व का भान होने लगता है। यही भक्त-स्थल के प्रवेश की अनुभूति है। वस्तुतः शुद्ध अनुभूति भक्त-स्थल से प्रारम्भ होती है। भक्त-स्थलका मतलब है जो जगत् को अपने से अलग देख रहा था, जो जीवावस्था में रहा, अब इसकी दृष्टि परिवर्तित हो गयी है, अत एव नाम, जाति इत्यादि एवं पूर्वजन्म का प्रश्न भी नहीं है, क्योंकि गुरुकृपा से शुद्धबोध का उदय हुआ। इसके फलस्वरूप साधक अपने शुद्धलिंगस्वरूप भक्ति-शक्ति द्वारा (श्रद्धा भक्ति से) अपने स्वरूप का विस्तार करके उपास्य स्वरूप लिंग से संयुक्त हो जाता है। यह जो संयोग है, वह एकात्मक संयोग है। इसमें क्रम रहता है। भक्त-स्थल में जो पूर्ण तत्त्व है, वह अपने भाव और योग्यता के अनुसार बोधित होता है, क्योंकि यह क्रममार्ग है। इसमें भक्तियुक्त साधक ने स्वात्मस्वरूप परम वस्तु, अर्थात् लिंग का जो संयोग अथवा सामरस्य प्रारम्भ किया था, अब वह प्रत्येक अवस्था में अर्थात् प्रत्येक स्थल में सामरस्य प्राप्त करते-करते अग्रसर होगा। अत्यन्त महत्त्व की बात यह है कि अंगभाव हटकर लिंगभाव होना आवश्यक है। शुद्ध भक्ति-शक्ति का स्पर्श करते ही साधक का भाव बिलकुल लिंग से एकाकार होकर अपने स्वरूपगत भक्तिसंयोग अवस्था प्राप्त कर और उन्नत स्तर पर पहुँच जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करते ही बाह्य इन्द्रियभाव हट जाता है, एवं लिंगभाव अर्थात् चेतनभाव जग जाता है। इस स्थलगत साधना का चरम लक्ष्य है—ऐक्यस्थल प्राप्त करना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि लीला के लिये ही एक तत्त्व दो बन कर अनन्त बन जाते हैं। सभी स्तरों में अपने शुद्ध आत्मा से अंगगत भक्ति के साथ लिंगानुभव किया जाता है। इसमें रहस्य की बात यह है कि आरोहण क्रम में लिंग ही लक्ष्य बनता है, एवं अवरोहण क्रम में लिंगगत शक्ति के आधीन रहने के कारण उसका लक्ष्य अंग तक विकास करना है। इसका मतलब यह है कि लिंगगत शक्ति के साथ शिव उपासक बन जाता है। अब अंगगत शक्ति पुनः अपनी भक्ति के बल से लिंग बन जाती है, एवं ऐक्यावस्था में यह लीलाभाव रहता है, अत एव इसको रसानुभूति मानने के कारण सामरस्य अथवा मिलित अवस्था कहते हैं। यह सामरस्य अथवा मिलन है। इसमें मिलित साधारण भाव को देखा जाता है, इसी प्रकार शुद्ध जीव अपनी व्यक्ति सत्ता से लिंग के साथ जब योग कर लेता है, तब लिंग में आलिंगन करने का कुतूहलभाव होता है। इस परस्पर आलिंगन को ही लिंगांगयोग

कहा जाता है। प्रारम्भ में दोनों अलग हैं, अर्थात् प्रत्येक स्थल में यहाँ अभेद अवस्था में कल्पित भेद रहता है। यह कल्पित भेद ही साधक अवस्था कहलाती है, एवं उस स्थल में जो संयोग है, वही सिद्धावस्था कहलाती है। इस प्रकार सामरस्य का अन्तिम लक्ष्य है महालिंग प्राप्ति, अथवा अपने को एक कर देना। अब प्रसंगतः प्रत्येक स्थल में यह विचार किया जायगा कि अंगभाव में लिंगभाव का किस प्रकार क्रमशः विकास हुआ। यह मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म एवं अनुभूतिगम्य है।

दीक्षा की पूर्व दशा

पहले ही कह चुके हैं कि गुरुकृपा के विना यह साधक भक्त नहीं वन सकता। जिसको गुरुकृपा प्राप्त नहीं हुई है, उसको इस सम्प्रदाय की परिभाषा में 'भवि' कहा जाता है। दीक्षा के पूर्व जो मायिक बन्धन में रहा, अर्थात् जो देह में कर्तृत्व अभिमान रहा, "मैं इस प्रकार का व्यक्ति हूँ" यह अब नहीं रहा, क्योंकि गुरु की कृपा एवं इष्टयोजन के फलस्वरूप भवि का गुणसम्बन्ध नष्ट हुआ, एवं काल का नाश हुआ। भक्त होते ही यह जो परिच्छिन्न अवस्था थी, अब अवस्था में आने के कारण विवेक ज्ञान के साथ ही माया से शुद्ध स्वात्मबोध का उदय हुआ। यह शुद्ध स्वात्मबोध अब शुद्ध स्वात्मस्वरूप नहीं है।

दीक्षा के पश्चात् स्वात्मबोध और भावजागरण

गुरुकृपा के द्वारा इसको अपने लिंगस्वरूप इष्ट के साथ जोड़ा जाता है। केवल शुद्ध आत्मस्वरूप बोध करने पर भी भक्त नहीं कहलाता, क्योंकि उसका आत्मस्वरूप में माया का सम्बन्ध हटाना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु स्वात्मस्वरूप में भावशरीर की जागृति आवश्यक है। विना भाव की जागृति के भक्त नहीं कहलाता। भाव जगाने वाली गुप्त शक्ति ही भक्ति-शक्ति कहलाती है। एक बात ध्यान देने की यह है कि इस मायिक शरीर में रहते हुये ज्ञानशक्ति द्वारा मायिक बोध का नाश करके स्वात्मस्वरूप में प्रवेश करना चाहिये। इस प्रकार शुद्ध अवस्था को प्राप्त करते ही उपासक बनने के लिये देह की आवश्यकता है और विना देह उपासना संभव नहीं है। तब इस शक्तिस्थल अवस्था में यदि भावकाय का निर्माण नहीं हुआ तो भक्त नहीं कहलाता है।

प्रसादकाय या भावतनु

प्रभुदेव जी ने अपने अनुभूति में स्पष्ट रूप से कहा है कि विना 'प्रसादकाय' भक्त नहीं बन सकता। यह प्रसादकाय ही शरीर या भावतनु कहलाता है। इसी को प्रसादकाय कहते हैं। इस भक्त के प्रसादकाय में ही लिंग, आत्मस्वरूप बन जाता है। अर्थात् आत्मा ही अंगरूपेण होकर शरीर बनता है। अत एव इस उपास्यउपासकभाव में दोनों का सम्बन्ध आत्मसंबन्ध कहलाता है, एवं यह आत्मलिंग की आत्मरूपेण

उपासना करता है। वस्तुतः गुरु शिष्य के कर्तृत्वाभिमान का नाश करके उसको शुद्ध अहंस्वरूप का बोध स्वयं कृपा करके कराते हैं।

[1]श्रीप्रभुदेव जी कहते हैं कि जिस प्रकार "पारस ताम्र को भी सुवर्ण बना देता है, उसी प्रकार अंगगत भोग अथवा सुख को लिंगभाव प्राप्त कर लेता है। अर्थात् अंग प्रसादकाय बनकर लिंगभाव प्राप्त कर लेता है। प्रसादकाय का भक्त-स्थल अवस्था में उदय होता है। यहीं काय में अब अहंबोध शुरू हो गया। यह प्रसादकाय अप्राकृत एवं भावमय चैतन्ययुक्त दिव्यदेह है। इसको काल और कर्म स्पर्श नहीं कर सकेगा, अर्थात् यह विकारी नहीं है। शुद्ध चैतन्यात्मक दिव्य देह है।"

अत एव सूक्ष्मागम में कहा गया है कि—'त्यक्त्वाऽभिमानं देहादौ भक्त इत्युच्यते बुधैः"। इस आगम वचन से यह स्पष्ट होता है कि भक्तस्थल का अधिकारी बिना मायिक देह में अभिमान हटाये नहीं हो सकता। यह मायिक देह का अभिमान हटाना ही भक्तस्थल का अधिकारी कहलाता है। उसमें गुरुकृपा से प्राप्त प्रसादकाय से भगवदाराधना शुरू होती है।

मायिक देह में जो अभिमान है, अर्थात् मैं इसी शरीर में हूँ, एवं यही देह मेरा स्वरूप है, यह बोध वस्तुतः स्वप्रयास से भी हट सकता है। केवल मायिक शरीर का बोध हटना ही पर्याप्त नहीं होता, क्योंकि मायिक शरीर से बोध हट जाने पर यह बोध और कहीं रहना चाहिये। अत एव गुरुप्रदत्त काया का बोध यहाँ आवश्यक है। यह भावतनु का बोध कहलाता है। गुरुकृपा से देहलाभ प्रथमतः हो जाता है। भक्ति-स्थल में धीरे धीरे स्वात्मबोध का विकास होते ही यथार्थ अहं बोध अपने भावतनु में होता है। [2]भक्तरूपी अंग के सामने जो अपना उपास्य है, उसको आचारलिंग कहा जाता है। भक्ति स्थल में साधना करने वाले साधक को मन्त्र, निरीक्षण, भजन, इलन, वेध इनका आश्रय लेना पड़ता है। इसके अभ्यास से साधक अपने में श्रद्धा भक्ति का विकास कर लेता है, तब वह महेश्वरस्थल का अधिकारी बन जाता है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जब साधक अंगस्वरूप में रहकर लिङ्ग का स्पर्श करता है, तो वह पुनः वियोग के समय लिंगस्वरूप बन कर अंगस्वरूप रहता है। अत एव प्रत्येक स्थल में साधक लिंगसंयोग के साथ

---

१. देखो लिंग का भोग हो सके और प्रसादकाय बन सके तो कभी भी भवकर्म का स्पर्श नहीं होगा। आदिप्रसाद के लिये बाधा नहीं है। न तो चन्द्रमा से पिघलेगा, न आतप से उत्तप्त। गुहेश्वर तुम्हारा शरण रसयुक्त पारस है। (प्रभुदेववचन, पृष्ठ ९३)

२. त्यक्त्वाऽभिमानं देहादौ मल इत्युच्यते बुधैः। (सूक्ष्मागमे ८। ३५)

लिंगभक्ति स्वात्मस्वरूप शक्ति बन कर पुनः ऊपर उठता है। जो साधक है, वह जिस माध्यम द्वारा लिंग स्पर्श करता है, उसको इस सम्प्रदाय में 'हस्त'[1] कहते हैं। यह एक पारिभाषिक शब्द है। अत एव अंग जब अपने हस्त से भक्ति के साथ अग्रसर होता है, तब लिंग मुख द्वारा संयोग कर लेता है। इस प्रकार महेश्वर स्थल में आ जाता है। इस स्थल में भी [2]अवान्तर स्थल हैं। इस अवस्था में साधक आचारलिंग स्वरूप बन कर अब भावदेह सम्पन्न हुआ है। किन्तु अभी भाव का उदय नहीं हुआ है। साधक ने अपनी निष्ठाभक्ति का विकास करके जिस भावतनु को पाया है, उसी से साधना करनी है। इस समय केवल जगत् का व्यापक भाव का अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। यदि इस अवस्था में विश्व अष्टतनुमय है, एवं यह मेरा ही स्वरूप है, यह बोध यदि आ जायेगा, तो आगे प्रगति नहीं हो सकती। अत एव इन अनुभूतियों को छोड़ कर यह विश्व आत्मस्वरूप अथवा शिवस्वरूप है, एवं चैतन्यमय शिवस्वरूप में सब कुछ भासित हो रहा है, इस प्रकार का अनुभव होना चाहिये। इस अवस्था में भावदेह का आश्रय करके कर्म प्रारंभ करता है, अत एव इसको महेश्वर अवस्था प्राप्त हो जाती है। अत एव इस अनुसन्धान को सिद्धान्तशिखामणिकार कहते हैं कि—

> भ्रमद्भ्रमरचिन्तायां कीटोऽपि भ्रमरायते।
> शिवचिन्तासमाक्रान्तः शिवरूपी भवेद् ध्रुवम्॥

इस प्रकार भ्रमरकीटन्यायानुसार यह सम्मुखचिन्तन प्रारम्भ होता है। इस भाव कर्म के लिये गुरुप्रदत्त काया अत्यन्त आवश्यक है। जिस भाव में बैठ कर उपासना की जाती है, इसको 'अकाय'[3] भी कहा जाता है, क्योंकि यह मायिक काय से विलक्षण है। यह मायिक तनु की तरह विकारयुक्त नहीं है, यह सच्चिदानन्दस्वरूप है। इसको [4]"परकाय' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मायिक काया के बोध से विलक्षण एवं सच्चिदानन्दस्वरूप शरीर है। इसमें रहकर जो आचार अथवा क्रिया की जाती है, उसी को धर्माचार भी कहा जाता है। इस अवस्था में पूर्ण जगत्

---

१. सुचित्त हस्त, बुद्धि हस्त, अहंकार हस्त, मनो हस्त, ज्ञान हस्त, भाव हस्त।

२. (१) महेश्वरप्रशंसास्थल, (२) लिंगशिष्टस्थल, (३) पूर्वाश्रयनिरसनस्थल, (४) अद्वैतनिरसनस्थल, (५) आह्वाननिरसनस्थल, (६) अष्टमूर्तिनिरसनस्थल, (७) सर्वगतिनिरसनस्थल, (८) शिवजगन्मयस्थल, (९) भक्तदेहिकलिंगस्थल।
(सिद्धान्तशिखामणि, परि० १० पृ० १६८)

३. भवागम स्थल, परि० १६–७०

४. सकाय स्थल, परि० १६–७०

स्वात्मस्वरूप में भासित होने लगता है। इसी अवस्था में महाज्ञान का उदय होता है। क्योंकि यहाँ साधक अपने भावतनु से अपने उपास्य को सम्मुख रखकर कार्य प्रारम्भ करता है। यह इस अवस्था में दिव्य योगी वन जाता है, किन्तु यह अवस्था गुरुलिंग युक्त अवस्था होने पर भी पूर्णतायुक्त नहीं है। इसमें एक ही शिवचिन्तनभाव रहता है। अत एव गुरु लिंगस्वरूप बनता है। साधक इस गुरुलिंगस्वरूप के साथ पुनः अपने अंगस्वरूप बोध में आया, किन्तु अव अंग क्रमशः लिंग शक्ति को अपने भक्ति द्वारा स्वायत्त करते चल रहा है। वह अपने शिवत्व स्वरूप को प्राप्त करके शिव दृष्टि से देखने लगता है। इसमें 'अवधान' भक्ति का उदय होकर प्रसादिस्थल का अधिकारी वनकर वह अपने गुरुदत्त तनु में विश्व को शिवदृष्टि से देखने लगता है। अपनी भावमय दृष्टियों से इन्द्रिय व्यापार चलता है। अपने आत्मा में ही अपने स्वात्मस्वरूप से भावतनु के आश्रित होकर व्यवहार करने लगता है। अत एव जो शुद्ध प्रमेय अपने में भासित हो रहा है, अर्थात् अपने निर्मल स्वरूप इन्द्रियों में जो भासित हो रहा है, वह सव शिवमय है। इस प्रकार का भाव रखकर लिंगार्पण करके अनुभव करता है, अर्थात् इस स्थल में प्रथमतः चैतन्यात्मक लिंगवोध स्वरूप होकर उसको चैतन्यस्वरूप से ग्रहण करता है। अत एव इसको विपयादि में विकार अथवा पुनः भोगलोलुपता करने की इच्छा नहीं रहती। इसके फलस्वरूप तृप्ति आ जाती है। स्वाभाविकतया जो भावतनु युक्त महेश की वहिर्मुख प्रवृत्ति स्वात्मस्वरूप में रही, अव वह अर्पण करते ही अन्तर्मुखी हो गई।

प्रसादि स्थल

इस [1]प्रसादि स्थल में साधक में पुनः शिवलिंग संयोग करने का प्रभाव उत्पन्न हुआ। इस प्रसादि स्थल में भी अवान्तर भेद हैं। इस अवस्था में साधक अपने गुरुलिंग युक्त अंग से प्रसादि स्थल में जो इन्द्रियों से अनुभूत विषय को शिव को अर्पित करता है। इसमें विकृत मन नहीं है। अत एव इस प्रकार के प्रसाद के फलस्वरूप मनःशुद्धि हो जाती है। अत एव इसको निर्माल्य कहा जाता है। निर्मल ज्ञान युक्त होकर मन को प्रसन्न रखता है। यह मन अव शिवार्पित भावना से व्याप्त है। इसी अवस्था में स्वात्मस्वरूप गुरुतत्त्व का उदय होता है, एवं विश्व को लिंगमय

---

१. प्रसादिस्थलमाहात्म्यं गुरुमाहात्म्यकं ततः।
ततो लिङ्गप्रशंसा च ततो जङ्गमगौरवम्॥
ततो भक्तस्य माहात्म्यं ततः शरणकीर्तनम्।
शिवप्रसादमाहात्म्यमिति सप्त प्रकारकम्॥
(सि० शि० प्र० स्थ०, परि० ११ श्लो० १)

भाव से देखता है। तब साधक को पूर्ण विश्व प्रकाशात्मक दिखलाई देने लगता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह अपने आत्मस्वरूप में [1]शिवशक्त्यात्मक सारे विश्व को देखने लगता है।

इसी प्रसादि स्थल में साधक का भावकाय सम्पन्न होकर अन्तर्मुख होने के कारण आत्मा में विश्व लिंगस्वरूप से भासित होता है। जो यह अपने में भासित हो रहा है, अर्थात् अंगभाव युक्त होकर अनुभव कर रहा है, उसको यह प्रतीत होता है कि इस अंगभाव को रख कर लिंगार्पित किया जाता है। वह इन्द्रिय और मन का स्पर्श होने से पहले ही अर्पण किया जाता है। इसके फलस्वरूप स्वात्मा में ही जब लौटता है, तब यह प्रसाद कहलाता है। आत्मस्वरूप में लिंग भी है। भावकाय से युक्त होकर समर्पण क्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। यह समर्पण-क्रिया गुरुगम्य है, क्योंकि इस समर्पण भाव के फलस्वरूप पूर्णस्वरूप के साथ एक हो जाता है। प्रथमतः जो बहिर्मुख चैतन्य अब अन्तर्मुख होकर चलने लगता है। अपने स्वरूप को अर्पण करना [2]लिंग प्रसाद कहा जाता है। साधक इस अर्पण के फलस्वरूप प्रसादी कहलाता है। जब लिंग प्रसादी बन जाता है, तो आधि-व्याधि लौकिक भाव छूट जाते हैं। अन्ततोगत्वा इस अवस्था में अपने भावकाय का भी अर्पण करना पड़ता है। इसी को शुद्धप्रसादी कहा जाता है। अत एव जिस काय की उत्पत्ति होकर भाव-सम्पत्ति हो गयी थी, उसके अर्पण से जाग्रत् भाव आ गया। यही सावधान भक्ति कही जाती है। अर्पण करने पर काय का नाश नहीं होता, किन्तु पुनः लिंग युक्त अंग बनकर प्राणलिंग अवस्था में आ जाता है। इस अवस्था में लिंग ही अपना प्राण स्वरूप बना लिया है। अंग प्रसादिस्थल में जिस लिंग का सामरस्य प्राप्त किया, उससे अंगभाव क्रमशः लिंगभाव में परिणत हो रहा है। भावतनु में ही अर्थात् आत्मा में ही एक होकर अब उपास्य और उपासक की भेदाभेद अवस्था आगे चल कर अभेद अवस्था में परिणत हो जाती है। साधक सामरस्य अवस्था के फलस्वरूप अपना स्वरूप प्राणलिंग स्थल[3] में रखकर पुनः अनुसन्धान प्रारम्भ करता है। लिंगांगयोग कर्तृत्व अभिमान युक्त साधना नहीं है, अपितु कृपाप्रधान साधना है। यहाँ कृपा का ही प्राधान्य है। किसी हठयोगादिप्रक्रिया का आश्रय करके प्राणादि का अभ्यास

---

१. पीठिका परमा शक्तिर्लिङ्गः साक्षात् परः शिवः।
शिवशक्तिसमायोगो विश्वलिङ्गं तदुच्यते॥

२. प्रभुदेव वचन, प्रसादि स्थल।

३. (१) प्राणलिंग, (२) प्राणलिंगार्चन, (३) शिवयोगसमाधिस्थल, (४) लिंग-निजस्थल (५) अंगलिंगस्थल। (सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद ४–५)

करने की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविकतया भावतनु से युक्त होकर कमल मार्ग से पूर्ण सहस्रार कमल तक सरल गति द्वारा कर्णिका में पहुँच जाता है। अत एव यह सरल गति का क्रम है। भक्त, महेश्वर, प्रसादी यह कर्म प्रधान रहने के कारण कर्मयोग कहलाता है। प्राणलिंग स्थल को ज्ञानयोग कह सकते हैं। सिद्धान्तशिखामणिकार का कथन है कि 'सर्वतत्त्वमयः प्राणः सर्वज्ञानमयः शिवः।"

शिवयोगीगण प्राणापान के मध्य में जो सरल गतिस्वरूप ज्योति है, उसी को प्राणलिंग कहते हैं। यहाँ प्राणलिंग शब्द का पारिभाषिक अर्थ में उपयोग किया गया है। प्राण एवं अपान के मध्य में ज्योतिस्वरूप सरल गति वाले वायु को प्राणलिंग कहते हैं। इसी को अहंताबोध कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्य में तुहिनकण लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह प्राणवायु शिवलिंग में लीन हो जाता है। यह हृदय-कमल में दीप की तरह स्फुरित होने लगता है। इस प्रकार के अनुभव को संविल्लिंगपरामर्श कहा जाता है। यहाँ पर प्राणलिंग की अन्तरंग एवं अत्यन्त गुप्त अर्चना की जाती है। यहाँ पर अभेद रूपी भाव से पूजा की जाती है। यहाँ पर लिंग साकार स्वरूप है। हृदय मन्दिर में[1] द्वादश कमल कर्णिका में जो शिवविग्रह है, उसकी बोधरूपी पूजा करनी चाहिये, अर्थात् उसी बोध में भावित होकर रहना पड़ता है।

प्राणलिंगानुसंधान युत साधक

साधक मध्यप्राण को पकड़ कर वहीं अपने भावशरीर में अभिमान रखकर भावानुकूल चिदाकार बनाकर, अपने भाव की शुद्धि करने के लिये अपने क्षमा, विवेक इत्यादि गुणों का विकास कर लेता है। यही यथार्थ प्राणलिंगार्चन है।

इसमें भाव की शुद्धि रहने के कारण अपने भावतनु का लिंग के साथ योग होते ही शिवशक्तियुक्त साकार मूर्ति के साक्षात्कार के योग्य बन जाता है, तो वही अर्थात् मेरे भाव में जो भावित हो रहा है, वह स्वात्मस्वरूप है, इस प्रकार का बोध होने लगता है। भ्रूमध्य के ऊर्ध्वभाग में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल है, इस कमल के मध्य में शुभ्र सोममण्डल है। उसमें अति सूक्ष्म रन्ध्र है। उसका भेद करने पर कैलाश है। यह सब आत्मा में ही विद्यमान है। यह भाव चिदात्मक रहने पर भी आनन्दात्मक है। जिस प्रकार बहिर्वासना के कारण बहिर्विकल्प विश्वात्मना प्रकाशित होता है, उसी प्रकार इस भाव के कारण अन्तःस्थित चिदात्मा अन्तर्वासना के

---

१. क्षमा, विवेक, सत्य, वैराग्य, समाधि, संपत्ति, निरहंकृति, श्रद्धा, महाशून्य इत्यादि भावना द्वारा प्राणलिंग की पूजा होती है।

(सिद्धान्तशिखामणि, परिच्छेद १२ श्लोक ४-२)

लिये शुद्ध विकल्पात्मक होकर इस प्रकार भासित होता है। इस प्रकार के भाव के विकास को ही ज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार स्वात्मस्वरूप बोध होना ही प्राणलिंग का अनुभव कहलाता है।

इस प्रसंग में प्रभुदेव के प्राणलिंग स्थल में वर्णित जो अनुभव है, उसको प्रस्तुत करना अप्रासंगिक नहीं समझता। इस स्थल में अंगकला लिंगकला बन जाती है। अत एव करणाद्वैत भी नष्ट हो गया। श्रीप्रभुदेव के अनुभव से स्पष्ट होता है कि इस स्थल में सोम एवं सूर्य दोनों का भेद करके अंगभाव बना लेना चाहिये। इसी स्थल में[1] विशुद्ध स्वरूप की प्राप्ति होती है। प्रभुदेव जी कहते हैं कि षट्चक्र स्थित षट् कमल कर्णिका से सरल गति द्वारा सहस्रार को लाँघ कर शतदल पद में गुरु हैं, उसके साथ योग कर लेना चाहिये। यह कहकर अपने अनुभव (वचन) वाणी में फिर कहते हैं—इससे यह स्पष्ट होता है कि षट्स्थल मार्ग कृपामार्ग है, एवं कृपा के आकर्षण से षट्कमलगत मार्ग द्वारा ही ऊर्ध्व गति से जाना पड़ता है। उनका कथन है कि आधार से हृदय तक ब्रह्महृदय कमल नाड़ी में विष्णु, इसके अग्र भाग में रुद्र, उसके ऊपर भ्रूमध्य में ब्रह्मा, उसके ऊपर भ्रूमध्य में ईश्वर-सदाशिव, इन सबके ऊपर जाने पर अंग-सुख जाकर लिंगसुख बनता है। प्रभुदेव ने षट्चक्र एवं कमल इत्यादि का अपने वचनानुभव में वर्णन किया है।

च०	तत्त्व	दल	दलगत वर्ण	वर्ण	कोण	देवता
आ०	पृथ्वी	४	व, श, ष, स	सुवर्ण	चतुष्कोण	दाक्षायण
स्वा०	जल	६	ब भ म य, र, ल	नभ	धनुर्गति	ब्रह्मा
म०	तेज	१०	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ	कृष्ण	त्रिकोण	विष्णु
अ०	वायु	१२	क, ख, ग, घ, ङ, च छ, ज, झ, ञ, ट, ठ	कुं	षट्कोण	महेश्वर
वि०	आकाश	१६	अ—अः	श्वेत	वर्तुलाकार	सदाशिव
आ०	मन	२	हं क्षं	माणिक्य	तदीयाकार	गुरु

उन्मनी ज्योति ब्रह्मकमल को भेद करके जाती है। ओंकार स्वरूप सदा रहता है।

वस्तुतः यदि साधारण दृष्टि से देखा जाय तो प्राण लिंगानुसंधान, दस वायु कर्मवासना नष्ट हो जाने पर होता है। इसको नष्ट करने के लिये प्रक्रियाविशेष का

१, विशेष विवरण—प्रभुदेववचन, प्राणलिंग स्थल व० न० ९४, पृष्ठ २५८।

अवलम्बन करने की आवश्यकता नहीं है। प्रभुदेव कहते हैं—"खेलते खेलते त्रिकोण रूपी पर्वत पार कर शृङ्ग पर ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों का निरीक्षण कर लिया एवं शिवोऽहंभाव का उदय हुआ"[१]। आगे कहते हैं कि मैंने अनायास ही कुण्डलाग्नि के प्रकाश को पश्चिम द्वार में शिवोऽहं शब्द से युक्त कर लिया, ज्ञान एवं ज्ञेय को रोक कर समरस कर लिया और उसी का निरीक्षण कर लिया। फलस्वरूप वह मुझमें ही लीन हो गया और अद्वैत रह गया। इस प्रकार द्वैत नष्ट होने पर शिवोऽहंभाव का उदय प्राणलिंग स्थल में होता है। साधक प्राणलिङ्ग स्थल में जब सामरस्य प्राप्त करता है, तब की यह बात हुई; किन्तु इतना होने पर भी अभी अंग भाव का अंश है। अत एव प्राणलिंगी अवस्था में शिव शक्ति बनकर जिस भाव से उमा एवं शिव स्वरूप आकार निर्माण करके, स्वात्मस्वरूप आकार निर्माण करके उसको स्वात्मस्वरूप समझकर उपासना प्रारम्भ करता है और साधक अपने में अंगस्थल के अनुभव के कारण स्वयं अपने को शक्ति बनाकर लिंगरूप शिव को आलिंगन कर लेता है, इसके फलस्वरूप साधक अंगशक्तियुक्त शरणावस्था को प्राप्त कर लेता है। [२]यही शरणस्थल कहलाता है। इस स्थल में साधक अथवा अंग प्रौढ़ शक्ति एवं भाव सम्पन्न हो गया है। साधक शक्तिभाव युक्त होकर लिंग को पति बना लेता है। अत एव साधक अपने को सतीभाव युक्त बनकर शिव को पति मान कर भाव लीला में प्रवेश करता है। सती-पति-भाव शरणस्थल में आकर भावलीला प्रारम्भ होती है। स्थायी भावापन्न होकर अपने रसास्वाद के लिये लिंग-स्वरूप परमात्मा को पति बनाकर स्वयं सती बनकर भावसाधना प्रारम्भ करता है। साधक स्वयं शक्तिस्वरूप बन गया है। एवं लिंग शिवस्वरूप है। परस्पर आकर्षण प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार के स्थायी भाव का उदय होने के बाद व्यभिचारी भाव का उदय नहीं होना चाहिये, क्योंकि किसी स्थायी भाव के लिये व्यभिचारी भाव हानिकारक है। वस्तुतः प्राणलिंग स्थल भावतनु में रहने पर भी स्थायी भाव नहीं हो पाया था। अर्थात् भक्त, महेश, प्रसादी इत्यादि अवस्था में अनन्त भाव रहे, किन्तु शरणस्थल में जाकर स्थायी भाव दृढ़ हो गया। साधक अपने में सभी संचारी भावों को लेकर, लिंग के केन्द्र में रखकर, अपने भाव कमल दलों से युक्त होकर के अपने पति (लिंग) से मिलने का प्रयत्न प्रारम्भ करता है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भाव स्वात्मस्वरूप, अद्वैतस्वरूप है। अत एव इस स्थल में इस सम्प्रदाय में सभी शिवयोगी गण अपने अनुभव की तुलना वैष्णव साधकों की राधाभाव से कर सकते

---

१. प्रभुदेववचन, प्राणलिंगस्थल, पृष्ठ १९६, व० १११।

२. (१) शरण स्थल, (२) तामसवर्जन स्थल, (३) निर्देश स्थल, (४) शीलसम्पादन स्थल (सि० शि० शरण स्थल, परि० १२–३–४ पृ०, १९

हैं। यहाँ पर भी सब भावों को लेकर केवल परमात्मस्वरूप लिंगस्वरूप का एवं उसकी प्राप्ति के लिये कातर भाव इत्यादि का विशेष विवरण मिलता है। इसके फलस्वरूप स्वाभाविकतया साधक में शान्ति, दया, करुणा इत्यादि सात्त्विक भावों का विकास हो जाता है। 'मैं शक्ति स्वरूप हूँ', 'मैं शिव में आश्रित हूँ', 'इस प्रकार के भाव में रहता हूँ' यह भाव सर्वार्पणभाव कहलाता है। अत एव इसको 'शरण' कहा जाता है। साधक में अपनी इच्छा अथवा किसी प्रकार का अपनापन नहीं है। सब कुछ शिव को अर्पण करके केवल संमुख होकर शरण साधन करता है। यही शिवयोग भूमि की सामरस्य अवस्था का पूर्वाभास है। जब तक अंग अपने अहं को लिंगस्वरूप बनाकर अपने को आश्रित नहीं समझता, तब तक वह परम सामरस्य का अनुभव नहीं कर सकता है। जब इस प्रकार के भावसूर्य का उदय होता है, तब पूर्ण अन्धकार एवं अज्ञानता की निवृत्ति हो जाती है। भाव के केन्द्र अवस्था में रहने के कारण यहाँ गुरुशिष्यभाव से स्वात्मस्वरूपभूत अनन्त भावों का विकास होता है। इस स्थल में जब भावस्थिरता हो जाती है, तो उसको 'शील' कहा जाता है। इस प्रकार शील द्वारा पूर्णभाव प्राप्त हो जाता है। अब भावदार्ढ्य ही इस स्थल का पूर्ण लक्ष्य है। इस प्रकार भावना से युक्त साधक ऐक्य स्थल में प्रवेश करता है। अर्थात् इस प्रकार भावदार्ढ्य से प्रसादलिंग एवं शरण इन दोनों का मिलन होता है। अब भाव भी इसमें परिणत हुआ। अब सामरस्य अवस्था में केवल रस ही रह जाता है। यह भावयोग के दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इस प्रसंग में प्रभुदेव की अनुभववाणी के आधार पर कुछ प्रकाश डालना उचित समझते हैं। ग्राहकभाव ही शरणस्थल का अनुभव कहलाता है। अर्थात् ग्राह्य एवं ग्रहण सब लीन हो जाता है। प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता इस त्रिपुटी में प्रमाता ही सब कुछ है। अर्थात् वस्तुतः प्रमाता ही ग्राहक, ग्राह्य और ग्रहण भाव प्राप्त करता है। वही पुनः बन जाता है। यह शरण-स्थल का अनुभव शिवोऽहं भाव से ऊपर की बात है। इसमें ग्राहक भाव का मतलब है स्वरूपसाक्षात्कार की प्राप्ति एवं उसका बोध। इस बोध के प्रभुदेव जी ने तीन विभाग किये हैं :—

(१) अल्प ज्ञानी, (२) मध्यम ज्ञानी, (३) अतीत ज्ञानी। इन सब ज्ञानियों को[1] प्रभुदेव जी खण्डित ज्ञानी कहते हैं। ज्ञान एवं अज्ञान दोनों को जो प्राकृत स्वभाव समझता है, उसको अल्पज्ञानी कहते हैं। जो ज्ञानभाव को लेकर व्यवहार करता है, उसको मध्यम ज्ञानी कहते हैं। ज्ञान प्राप्त करके अज्ञानी की तरह जो चलते हैं, उनको अतीत ज्ञानी कहते हैं। वस्तुतः यह सब खण्डित ज्ञान ही हैं। प्राणलिंग स्थल की अवस्था में सुज्ञान का उदय एवं प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानोदय होते ही माया एवं देह में जो जीवकला है, उनका तुरन्त नाश हो

---

१. प्रभु शरण स्थल व० २३, पृष्ठ १९८।

जाता है। इस ज्ञानोदय से नित्य जाग्रद्भाव का उदय होता है। कहते हैं कि [1]'ऊर्ध्व पवन के संयोग से त्रिभुवन नामक पर्वत पर आरोहण कर कायरूपी कदली में प्रवेश किया। यह ऊर्ध्व पवन वस्तुतः सरल गति ही है। यही सुज्ञानोदय है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि [2]प्रभुदेव कहते हैं कि यदि सरल गति पकड़ करके केवल सहस्रदल में रुक कर शतपत्र के पादोदक को जो अनुभव करता है, वह रुद्रलोक तक जाता है। यह द्वैत योगी की स्थिति है। इसको प्रभुदेव जी निषेध करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अर्थात् प्रभुदेव के पहले रुद्रलोक तक का ही अनुभव रहा। किन्तु प्रभुदेव जी इससे आगे का विवरण देते हैं, अर्थात् कहते हैं कि शतदल का भेद करके सामरस्य अवस्था को प्राप्त करना और आगे जाना चाहिये। शरण में कर्तृत्व अभिमान न रहने के कारण यह 'आरूढ ज्ञानी' कहलाता है, क्योंकि इसका सम्पूर्ण व्यवहार शिव से चलता है। वस्तुतः शरणस्थल की अवस्था चिदात्मक है, एवं शरण का स्वरूप बिन्द्वात्मक है। यह न ऊर्ध्व गति है, न अधोगति है; किन्तु वह सामरस्य अवस्था में जाकर एकाकार हो जाता है। यही शरण का लक्ष्य है। अपने भाव को निर्माणस्वरूप बनाकर शिव को चैतन्यात्मक स्वरूप में आलिंगन कर लेता है। इस प्रकार ऐक्यस्थल में पूर्ण सामरस्य का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार शिवयोगी ऊर्ध्व पवन द्वारा शतदल पद्म की कर्णिका में जाकर अमृतपान कर सामरस्य सुख का अनुभव करता है।[3]

ऐक्य स्थल ही पूर्ण लिंगांग सामरस्य का स्थल है। लिंगांग सामरस्य स्थल स्वरूप ऐक्य स्थल[4] को समझना अत्यन्त आवश्यक है। सिद्धान्तशिखामणि में कहा है :—

विषयानन्दकर्णिकानिस्पृहो निर्मलाश्रयः।
शिवानन्दमहासिन्धौ मज्जनादेव मुच्यते ॥

१. श्री प्रभुदेव वचन, शरण स्थल, व० ६३, पृष्ठ २१५।
   ,, ,, ,, व० १०१, पृष्ठ २४१।
२. श्री प्रभुदेव वचन, शरण स्थल, व० १४६, पृष्ठ २८८।
३. शिवयोगी अपनी साधना के बल से आधार स्थित कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना नाडी में प्रविष्ट होकर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर वहाँ पर व्योमचक्र प्राप्त करता है। उस कुण्डलिनी के सिर के ऊर्ध्व भाग में सुज्ञान रूपी रत्न है। उस रत्न में परम शान्तिबिन्दु है। उसने अग्नि एवं वायु संमिश्रण से बने हुये समस्त गुणों का ग्रसन किया। उस परम शान्तिबिन्दु के रूप में ही निरवयव ज्ञान रहता है। उसने तनुत्रय में प्रवेश किया। वही रह गया। उसमें परिपूर्ण अमृत भरा है। उस अमृत को सेवन करने वाले शिष्यरूपी शरण के लिये महाज्ञान हस्तामलकवत् हो गया, अर्थात् वह निराकार हो गया। (प्रभु० शरण व० अर्थ २७७)
४. सि० शि० परि० १४ पृष्ठ ३२ श्लोक ३

अंग अपने का शिवानन्द महासागर में निमज्जित कर लेता है। शिवभाव रहता है, किन्तु मायाकल्पित विश्वभावना नहीं रहती। स्वात्मस्वरूप मायाशक्ति के तिरोधान करने के कारण स्वात्मस्वरूप में सब कुछ होता है। इस प्रकार की ऐक्य स्थिति 'अद्वैत स्थिति' कहलाती है। शिवयोगी इसी अद्वैत-भाव में रहता है।

इस संसार को लांघने के लिये अद्वैतभाव रूपी नाव एकमेव साधन है। मायिक देह में रहने पर शिवयोगी को किसी प्रकार का बन्धन नहीं है। उसके लिये कर्माकर्म का प्रश्न नहीं उठता। वह विश्व को शिवमय समझता है। उसका प्रत्येक कार्य शिव-पूजा है। इस प्रकार के बोध को साम्प्रदायिक भाषा में 'एकभाजन'[1] कहा जाता है। उसके बाद शिव में विश्व भासित हो रहा है, इस प्रकार शिवस्वरूप एवं जगत् इन दोनों का सामरस्यभाव स्वात्मरूपेण होने लगता है। इसके फलस्वरूप केवल चित्प्रकाश ही रह जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण विश्व चित्स्वरूप में प्रकाशित होता है। यह सामरस्य अवस्था का अनुभव विमर्शहीन अवस्था नहीं है, क्योंकि इसमें सदैव रसात्मना चिदुल्लास है। जब इसको स्वात्मा में ग्रसन कर लेता है, शिवयोगी कहलाता है। इसमें सब कुछ लीन है। भाव भी भावातीत में बदल गया। इसकी अनुभूति भी हो गई। शरण स्थल में जिस भाव का आलिंगन हुआ, जो अंग एवं लिंगभाव में रहा, यहाँ आकर अंग एवं लिंग एक हो गये। इसको केवल महालिंग कहा जाता है। इस महालिंग में सब कुछ व्याप्त होकर, अन्तर्लीन होकर अब पूर्णलिंग स्वरूप ऐक्य स्थल सभी अंगों से युक्त है। इतना सामरस्य होने पर भी इस सामरस्य अवस्था में रस का अनुभव करने के लिये बोधरूप से अंगभाव रहता है। यह पूर्णस्वरूप होने पर भी, सब कुछ स्वात्मस्वरूप लिंग से पृथक् अस्तित्व न रखने पर भी, सब कुछ स्वात्मस्वरूप में उपास्य-उपास्यकभावभूत लीला के कारण हुआ है। अत एव नित्य इसी प्रकार चलता ही रहता है। यही शिवयोग कहलाता है। यहाँ नित्य सामरस्य स्वरूप का अनुभव चलता रहता है। शिखामणिकार का कथन है—

अहं शिवो गुरुश्चाहमहं विश्वं चराचरम्।
यथा विज्ञापने सम्यक् पूर्णाहन्तेति सा स्मृता॥

शिवयोगी इस पूर्णाहन्ता के बोध में रहता है। शिवयोगी नित्यस्वरूप महालिंगात्मक बोधविश्व के स्फुरण के समय अर्थात् विश्वात्मक अवस्था में शिवयोग महालिंग अवस्था से युक्त होकर नित्य स्वात्मस्वरूप लीला में अपने को शक्त्यात्मक बनाकर अपने स्वरूप में ही विश्व को देखता है। यही भावपक्ष का सामरस्य कहलाता है। ऐक्यस्थल में ऊपर की अनुभूति विश्वोत्तीर्ण अनुभूति कहलाती है। अत

---

१. (१) ऐक्य स्थल, (२) आचार सम्पत्ति स्थल, (३) एकभाजन स्थल, (४) सहयोजन स्थल। (सि० शि० परि० १४, श्लो०)

एव यहाँ लिंग की दो अवस्था है। एक विश्वात्मक अवस्था है, जहाँ साधक योगी बनकर इसमें रहता है। दूसरी तरफ विश्वोत्तीर्ण अर्थात् इस विश्व की उत्पत्ति के तत्त्व स्वरूप प्राप्त जो महालिंग है, वह तत्त्वात्मक शिवस्थानीय है। इस क्रम से ऐक्य-स्थल तक साधन क्रम से महालिंग तक पहुँचने के क्रम का विवरण हुआ। महालिंग नाद-बिन्दु-कलात्मक है। सामरस्य अवस्था से ऊपर उठकर नाद-बिन्दु-कलात्मक स्वरूप से ऊर्ध्व में जाकर, सर्वशून्य निरालम्ब तक जाकर शिवयोगी पुनः अपने आरोहण-अवरोहण क्रम से स्वात्मानन्द रूप शिवयोग में लीन रहता है। अत एव शिव की स्वात्मस्वरूप अवस्था परिमित देश-काल से अतीत है। अपने शिवस्वरूप भावतनु द्वारा नित्य लीला में रहता है, एवं उसकी दृष्टि से बहिर्जगत् नहीं है। जिसको हम मायिक कहते हैं। यहाँ तक कि जिसको हम मायिक कहते हैं, वह सब लिंगमय हैं। यह नित्य शिवस्वरूप स्थिति है। इतना होने पर भी स्वात्मस्वरूप में रह कर, अपने शिवतत्त्व भाव में भी सदैव जाग्रत् रहता है। अत एव शिवयोगी अपने पवित्र भाव द्वारा सदैव विश्व को लिंगस्वरूप अर्थात् चिन्मय देखता है। शिवयोगी का शरीर वस्तुतः मायिक दृष्टि से दिखाई देने पर भी वह पूर्णरूपेण लिंग-स्वरूप है, क्योंकि मायिक देह का जो कार्य है, वह उस शरीर से नहीं होता। अपनी भावना के द्वारा अर्थात् शिवयोग एवं इस स्थलगत साधना के द्वारा सम्पूर्ण रूपेण सिद्ध करके स्वात्मा में चैतन्यातिरिक्त उसको और किसी प्रकार का बोध नहीं है।

इस प्रकार इस षट्स्थल योगरहस्य की कई दृष्टिकोणों से विवेचना की जा सकती है। इस लेख में केवल भावपक्ष को लेकर अंगभाव क्रम का विकास दिखाया गया है। इस प्रकार अंग महालिंग स्वरूप बनकर पूर्ण शिवयोगी बनता है। इस योग को षट्स्थल-योग कहा जाता है। वीरशैव सम्प्रदाय में स्थलगत भेद द्वारा अनुभव का विभाग किया गया है। इसी षट्स्थल में २०६ और १०१ विभाग भी गिनाये गये हैं। यह सब नियम विस्तार की दृष्टि से समझना चाहिये। वस्तुतः भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिंग, शरण और ऐक्य के क्रम को मुख्य आधार मानकर इस प्रकार का विभाजन किया गया है॥

वज्रयोग का एक दृष्टिकोण

श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी, भू० पू० कनिष्ठानुसन्धाता—योगतन्त्र, वा० सं० वि० वि० वाराणसी ।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे दैवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

जैसे एक स्त्रीपिण्ड में रागी की रागबुद्धि, पुत्र की श्रद्धाबुद्धि एवं साधक की देवीबुद्धि दिखलायी पड़ती है, वैसे ही जगत्पिण्ड को कोई रागबुद्धि से अपने अधीन बनाना चाहता है, तो कोई श्रद्धाबुद्धि से अपने रहते हुये दूसरे को भी रहने देना चाहता है और कोई उस समस्त जगत् की कल्पना एक पिण्ड में ही देवभाव से स्वीकार करता है ।

ये ही अध्याशय हैं और इन्हीं अध्याशयों के कारण मनुष्य अनन्त काल से दुःखार्णव में निमग्न है । इन तीनों प्रकार की दृष्टियों का मूल कारण चित्त है और इसी चित्त से संसार की उत्पत्ति भी मानी गयी है । अत एव चित्त को ही सभी दुःखों का मूल कारण माना जाता है । इसी के कारण अहंकार और ममकार, ग्राह्य-भाव और ग्राहकभाव, कुशलकर्म तथा अकुशल कर्म आदि प्रादुर्भूत होते हैं । बौद्धधर्म इन चित्तों को शुद्ध कर विशुद्ध, शान्त, निर्मल, निर्वाण के लिये साधन का मार्ग प्रदान करता है । इसी हेतु बौद्ध दर्शन में अन्यान्य पथ मिलते हैं । चूंकि पुद्गल में सबसे अधिक रागबुद्धि की ही प्रबलता दिखलाई पड़ती है, अत एव उस राग के नाम के हेतु कुशल कर्मों का सम्पादन और अकुशल कर्मों का परित्याग अपेक्षित है । श्रावकयान में इसका ही सम्पूर्णतः उपदेश है । श्रावक पुद्गल शमथ और विपश्यना के आधार पर कुशल कर्मों का सम्पादन करते हुये कामावचर, रूपावचर, अरूपा-वचर की भूमियों को पार करता हुआ ध्यानसमापत्तियों के बल से अर्हत्व को प्राप्त करता है ।

श्रद्धानुसारी पुद्गल अपने ही निर्वाण से दुःख की परिसमाप्ति नहीं मानता । उसे तो अनन्त जीवों के दुःख की परिसमाप्ति चाहिये । अत एव वह दुःख के नाश के हेतु अपने अन्दर बोधिचित्त का उत्पाद करता है ।

वह कहता है कि मनुष्य भाव दुर्लभ है, क्योंकि इसी में पुरुषार्थ के अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते हैं । अत एव यदि वह इस सुअवसर में परापरहित का चिन्तन नहीं करता तो फिर उसे इस मनुष्य देह का पुनः समा-ग मकहाँ होगा ?

क्षणसम्पदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः॥
(बोधिचर्यावतार, प्रथमपरि०, श्लो० ४)

मनुष्य प्रायः अकुशल भाव मे अभ्यस्त होने के कारण कुशल भाव की ओर प्रवृत्त नहीं होता। इस अकुशल भाव पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रवल कुशल भावों को उदित करना होगा। वह बोधिचित्त से ही होता है—जैसे रात्रि में बादलों से घिरे हुये आकाश में बिजली के क्षणिक प्रकाश से वस्तु का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्धकारमय जगत् में बुद्ध (बोधिचित्त) के अनुभव से ही क्षण-मात्र के लिये मानव बुद्धि शुभ कर्मों में प्रवृत्त होती है—

रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे विद्युत् क्षणं दर्शयति प्रकाशम्।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात्॥
(बोधिचर्यावतार, प्रथमपरि०, श्लो० ४)

इस प्रकार बोधिसत्व, जीव को भवसागर के पार लगाने के लिये, सभी सत्वों को दुःखों से दूर करने के लिये, तथा उन सत्वों के लिये भी जो केवल दुःख का अपनयन मात्र ही नहीं, अपितु संसार के सुख की भी अभिलाषा रखने वालों के सुख सम्पादन के लिये भी बोधिचित्त का ग्रहण करता है—

भवदुःखशतानितर्तुकामैरपि सत्वव्यसनानि हर्तुकामैः।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम्॥
(वहीं, श्लो० ८)

बोधिचित्त के अनन्तर दानादि पारमिताओं का निरन्तर अभ्यास करता हुआ दश भूमियों को शमथ तथा विपश्यना के आधार पर पार करता हुआ जीव बुद्धत्व को प्राप्त करता है। इसमें उसकी करुणा ही उपाय है।

सामान्य रूप से विचार करने पर लगता है कि श्रावकयानी पुद्गल का उद्देश्य एक अपनी आत्मा मात्र को शम की उपलब्धि कराना है और उसी से निवृत्ति प्राप्त करना है। इसके विपरीत बोधिसत्व अपने को तथता (परम तत्त्व) में स्थापित करना चाहता है। सभी सत्वों को भी उसी रूप में स्थापित करना चाहता है। वह सम्पूर्ण ग्राह्यग्राहकभेद मिटा कर शाश्वत शान्ति की प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है। इसके आधार पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है, किन्तु इस बुद्धत्व की प्राप्ति में कई कल्प लग जाते हैं।

देवबुद्धवाला पुद्गल किसी भी पिण्ड को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समझता है। अत एव उसमें वह देवभावना रखता है और उसी में अपने इष्टदेव की भावना

करता है। वह पिण्ड ही उसके लिये परमार्थ है। इस पिण्ड में ही उसे गंगा, यमुना, तथा त्रिवेणी का संगम मिलता है। काशी तथा अन्य तीर्थों का क्षेत्र मिलता है। वह धातु और स्कन्धों से युक्त भौतिक शरीर को पुरुष तथा स्त्री के रूप में रख कर कर्ममुद्रा का स्वरूप मान कर पूजता है। मानसिक भूमि में ध्यानी बुद्धों एवं उनकी शक्तियों के आधार पर ज्ञानमुद्रा रूप में भावना करता है। उसे जगत् की क्षणिक किन्तु मूल्यवान् स्थिति ज्ञात रहती है। वह इस क्षणिक जगत् में ही सम्पूर्ण लोगों को इस विपत्ति-सागर से पार कराने के हेतु देव-देवीभाव के आधार पर महाकरुणा का उत्पाद करता है। उस करुणा के आधार पर प्रज्ञा प्राप्त करता है तथा प्रज्ञा और उपाय के सम्मिलन से बुद्धत्व को प्राप्त करता है। यही तन्त्रयान की दृष्टि है। इस दृष्टि में बोधिसत्व बोधिचित्तोत्पाद कर एक जन्म में ही बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है, तथा अनल्पासंख्येय जनों को संसार सागर से पार जाने की राह बतला सकता है।

यहाँ तक एक पिण्ड के प्रति व्यक्त होने वाले अन्यान्य भावों का सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। अब उस पिण्ड के सत्ता की परीक्षा करनी चाहिये, जिस पर ये विचार आधृत हैं। सामान्य रूप से पिण्ड के ऊपर विचार करते समय हम उसके तीन स्वरूप देखते हैं। एक तो उसकी सत्ता है, अर्थात् पिण्ड के स्वरूप की सत्ता है। इसी प्रकार उसके हेतु की सत्ता तथा उसके फल की सत्ता है। प्रायः कहा जाता है कि साधनाओं में तीन बातें आवश्यक होती हैं। वे हैं दृष्टि, चर्या तथा भावना। अब तक प्रस्तुत निबन्ध में मानव के ऊपर थोड़ा सा दृष्टिपात किया गया है। उसको ही ध्यान में रख कर दृष्टि पर विचार करना चाहिये। दृष्टि पर विचार करते समय सदा उस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों की तरफ ध्यान रहना आवश्यक है।

प्रायः कहा जाता है कि बौद्ध दर्शन वस्तु की सत्ता को नहीं स्वीकार करता, उसका कारण उसकी वस्तुनैरात्म्य या शून्यता की दार्शनिक दृष्टि ही है। वह जगत् में सांवृतिक तथा परमार्थ नाम से दो प्रकार की सत्ता मानता है। जगत् की वर्तमान सत्ता सांवृतिक है, तथा परमार्थ सत्ता शून्य रूप है। इसका ही वह दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। चन्द्रकीर्ति कहते हैं कि संसार सत् नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसकी खपुष्प जैसी असत्ता है, क्योंकि बिना सत् के असत् कैसे संभव हो सकता है। अत एव सापेक्ष और सविकल्प बुद्धि की समस्त कोटियों और धारणाओं की पहुँच के बाहर जो तत्त्व है, वही शून्यता है (इह सर्वेषामेव दृष्टिकृतानां सर्वग्रहाभिनिवेशानां यन् निःसरणमप्रवृत्तिः सा शून्यता—त्रयोदश प्रकरण, पृ० २४७ माध्यमिकवृत्ति)। वे कहते हैं कि हम सत् तथा असत् दोनों को निरावरण करके निर्वाणपुरगामी अद्वयपथ को प्रकाशित करते हैं। अत एव कर्मकर्तृफलादिरूप संसार

को अभावात्मक न मानकर उसे निःस्वभाव या स्वभावशून्य या प्रतीत्यसमुत्पन्न मानते हैं।

(न वयं नास्तिकाः। अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन तु वयं निर्वाणपुरगामिनमद्वयपथं विद्योतयामः। न च कर्मकर्तृफलादिकं नास्तीति ब्रूमः। किं तर्हि निःस्वभावमेतदिति व्यवस्थापयामः—पृ० ३२९, सप्तदश प्रकरण)

इस प्रकार जब प्रत्येक वस्तु हेतुप्रत्ययों के आधार पर ही खड़ी है, तथा जब वस्तु की अपनी सत्ता नहीं है, तो जो हेतु और प्रत्यय हैं, वे भी किन्हीं हेतु-प्रत्ययों के कार्य होने के कारण निःस्वभाव एवं सापेक्ष हैं। अत एव वे अनवस्थित हैं और उनकी भी शून्यता है। यही हेतुशून्यता की दृष्टि है। इसी प्रकार फलशून्यता भी सिद्ध होती है। क्योंकि जब सभी वस्तुएँ प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, तो उनकी भी अपनी स्वरूप सत्ता नहीं है और जब उनकी अपनी स्वरूप सत्ता नहीं तो उससे उत्पन्न फल की स्वरूप सत्ता कैसे हो सकती है? अत एव फल की भी शून्यता है। सामान्य रूप से यही बौद्ध दार्शनिक दृष्टि है।

अब विचारणीय बात यह उठती है कि मनुष्य इन सब दृष्टियों को समझ लेता है, किन्तु वह संसार से निवृत्त क्यों नहीं हो जाता। इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप साधना में बतलाये गये मार्गों का अनुसरण करना उचित होगा, क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि लोग विषय को तो समझ लेते हैं किन्तु उस समझे हुए विषय के अनुसार काम करने में हिचकते हैं। उसमें कई कारण होते हैं। बौद्ध साधना में प्रवृत्त होने के इच्छुक पुद्गल इस स्थिति में दो प्रकार के पाये जाते हैं। जिनमें एक को श्रद्धानुसारी पुद्गल कहते हैं तथा दूसरे को धर्मानुसारी पुद्गल कहते हैं।

प्रयोग के भेद से दो ही पुद्गल हैं—जिन्हें श्रद्धानुसारी तथा धर्मानुसारी पुद्गल कहते हैं। (प्रयोगप्रभेदतः कतमः ? श्रद्धानुसारी धर्मानुसारी च पुद्गलप्रभेदः—अभिधर्मसमुच्चय, पृ० ४६)

वैसे पुद्गल अनेक प्रकार के हैं, तथापि ये ही प्रधान हैं। इन दोनों पुद्गलों की आवश्यकता साधन-सम्पत्ति में बतलाई गई है। वे पुद्गल जो श्रद्धानुसारी हैं, सिद्धि की अधिगति जल्दी करते हैं। अत एव श्रद्धानुसारी पुद्गल की 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' में प्रशंसा की गयी है—

औत्सुकाः सर्वमन्त्रेषु नित्यं ग्रहणधारणे।
सिद्धिकाया महात्मानो महोत्साहा महौजसः॥
तेषां सिद्ध्यन्त्ययत्नेन मन्त्रा ये जिनभाषिताः।
अश्रद्धानां तु जन्तूनां शुक्लो धर्मेण रोहते॥

बीजमूषरे क्षिप्तं अङ्कुरो अफलो यथा।
श्रद्धामूलं सदा धर्मे उक्तं सर्वार्थदर्शिभिः॥
मन्त्रसिद्धिः सदा प्रोक्ता तेषां धर्मार्थशीलिनाम्।

(मञ्जुश्रीमूलकल्प, पट० ४ पृ० ६१)

धर्मानुसारी को भी श्रद्धायुक्त होने का पाठ पढ़ाया गया है, क्योंकि धर्मानुसारी जो मात्र तार्किक है, उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यह 'कालकृष्णयमारी तन्त्र' में लिखा है—

"तार्किक को सिद्धि नहीं प्राप्त होती। गुरु के द्वारा उपदेश करने पर उसमें क्षोदक्षेम करने वाले शिष्य को भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती। केवल शंका रहित तथा श्रद्धायुक्त होने पर गुरु के गुह्य उपदेश पूर्ण रूप से न देने पर भी उतने मात्र से सन्तुष्ट रहने वाले शिष्य को सिद्धि तुरन्त ही प्राप्त होती है। इसलिये गुरु-महिमा बहुत बड़ी है।"

अत एव बौद्ध साधना में गुरुवाद का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात न केवल बौद्ध साधना में ही, अपितु हिन्दू साधना में भी पाई जाती है, क्योंकि साधक के सभी कार्य गुरु-वाक्यों पर ही आधारित होते हैं और उसको सद्गुरु की प्राप्ति भी बड़ी कठिनाई से होती है। सद्गुरु ही साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार कराने में समर्थ होता है। गुरु को शून्य और करुणा की युगलमूर्ति कहा जाता है। वज्रयान में शून्यता तथा करुणा को ही प्रज्ञा तथा उपाय कहा गया है। इन दोनों का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है। इन दोनों का मिलित रूप होने से गुरु को मिथुनाकार बतलाया गया है। अत एव गुरु में पूर्ण श्रद्धा की आवश्यकता होती है। जैसे सारनाथ पहुँचने वाले व्यक्ति के लिये वाराणसी के किसी रहने वाले विश्वस्त व्यक्तिविशेष के द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण श्रद्धा एवं निष्ठा से करने पर ही वह प्राप्त होता है। तार्किक को मात्र तर्क के आधार पर वहां का ज्ञान मात्र ही प्राप्त होता है, साक्षात् दर्शन एवं अपूर्व आनन्द नहीं; वैसे ही गुरु में श्रद्धा एवं निष्ठा रखने वाले व्यक्ति को ही वह मौन सम्भाषण मात्र से महासुख का विस्तार कराता है और उसके हृदय से अन्धकार को दूर कराता है।

अत एव साधक, गुरु, त्रिरत्न तथा बोधिचित्त में भक्तिमान् होकर उसी प्रकार संसार सागर को पार कर सकता है जैसे कि एक मतिमान् नाविक नौका लेकर समुद्र पार करता है। वज्रसत्व ने संसार पार करने वालों के लिये गुरु को कर्णधार तथा धर्म को नौका बतलाया है। अत एव गुह्य वज्रयान में गुरु की भांति ही शिष्य की पात्रता पर भी बहुत ध्यान दिया जाता है। शिष्य को वन्दन क्रिया, अक्रोधी, अवि-

संवादी, त्यागादि गुण से युक्त उत्साही तथा गुरु की आज्ञा को शिर से स्वीकार करने वाला होना चाहिये।

इस प्रकार के शिष्य को वज्राचार्य गुरु सकल प्रपंचों से दूर हटाकर उसे सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति के लिये मण्डल में प्रवेश कराता है। अब शिष्य को श्रद्धा-बुद्धि से तान्त्रिक साधना में प्रवृत्त होने के लिये एक नवयौवनसम्पन्ना युवती को अपनी संगिनी बनाना पड़ता है। इसी को तान्त्रिक भाषा में मुद्रा कहते हैं। इसके बाद वज्राचार्य गुरु शिष्य को बोधिचित्त की प्राप्ति के हेतु अभिषिक्त करता है। यह चार प्रकार का होता है—

प्रथमं कलशाभिषेको द्वितीयं गुह्यमुत्तमम्।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं स्याच्चतुर्थं तत् पुनस्तथा॥

(अद्वयवज्रसंग्रह)

पहला अभिषेक छः प्रकार का होता है, जो बुद्धस्वरूप है। इसके द्वारा अविद्या-मल को दूर करने के लिये वज्राचार्य (गुरु) वैरोचन रूप को अवलम्बन करने वाले शिष्य को सलिलादि अभिषेकों से पवित्र करता है। इसके बाद गुह्य अभिषेक के द्वारा शिष्य को पवित्र धर्म में श्रद्धा उत्पन्न कराता है। गुरु सभी गुह्य साधनाओं का शिष्य को उपदेश देता है और उस उपदेश से प्रज्ञोपायस्वभावात्मक बोधिचित्तोत्पाद होता है। इसमें किस प्रकार से बोधिचित्त का अधोगमन अवरुद्ध किया जाय और कैसे ऊर्ध्वगमन हो सके तथा महासुख प्राप्ति सम्भव हो, उसका उपदेश देता है। इसी के बाद प्रज्ञाभिषेक होता है, जिसमें योगी शिष्य को यह बतलाता है कि सभी धर्म शून्य-रूप है, पुद्गल भी शून्यरूप है। प्रज्ञा की यौगिक नियमों से ज्ञप्ति करायी जाती है। अन्तिम अभिषेक को वज्राभिषेक कहते हैं। यही विशुद्ध अभिषेक है। इसी में सभी पूर्वाभिषेक पर्यवसित होते हैं। इसी वज्रात्मक तत्त्व को जानने के लिये शिष्य को वज्रज्ञानाभिषेक किया जाता है।

किन्तु वज्रज्ञानाभिषेक एवं वज्रयोग साधन के पूर्व इस प्रक्रिया में सम्पन्न होने वाले पिण्ड के प्रति रागबुद्धि वाले पुद्गलों की साधना का सामान्य परिचय प्रदर्शित करते हुये वज्रयोग पर पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। सामान्य रूप से वज्रयोग के विकास की यही पूर्वपीठिका भी मानी जाती है। अत एव इसका वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रायः पुद्गल जीव रूपादि के सदा उपभोग करने के कारण मोक्ष से विमुख रह कर वेदनाओं का अभिनन्दन करते हैं, जिसके कारण उनका कुशलचित्त ही दमित हो जाता है, किन्तु इस चित्त के दमन का कारण रागादि क्लेश ही है। अत एव इसको नष्ट करने के हेतु श्रद्धादि का उत्पाद करना चाहिये।

प्रायः अज्ञानी पुद्गल चार प्रकार के विपर्याय उत्पन्न करते हैं। कुछ पुद्गल अशुचि काय में शुचिबुद्धि के द्वारा रागबुद्धि रखते हैं, कुछ दुःखसत्य में ही कदाचित् सुखाभिव्यक्ति से सुख की ही अभिव्यंजना करते हैं, कुछ अज्ञानी अनित्य में ही नित्य की भावना एवं कुछ अनात्म में आत्मबुद्धि रखते हैं।

अत एव इन रागादिजन्य क्लेशों को दूर करने के लिये शमथ तथा विपश्यना भावना करनी पड़ती है। इनके आधार पर लौकिक तथा अलौकिक समाधियां उपलब्ध होती हैं। शमथ सिद्ध करने में कुछ अन्तराय होते हैं[1]। उनको दूर करना होता है। धर्मस्वरूप को जानने के लिये इन दोनों भावनाओं की नितान्त आवश्यकता पड़ती है। शमथ की इसमें प्राथमिकता है। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं :—

शमथेन विपश्यनासु युक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या॥
(बोधिचर्यावतार, पृ० १३७)

इस शमथ भावना के सिद्ध हो जाने पर श्रावक को उपर्युक्त चार प्रकार के विपर्यासों को दूर करने के लिये स्मृत्युपस्थान भावना करनी चाहिये। इसीलिये अभिधर्मकोशकार कहते हैं—

निष्पन्नशमथस्यैव　　स्मृत्युपस्थानभावना।
कायवाक्चित्तधर्माणां　विलक्षणपरिक्षणात्॥ (अभि०को० ६–१४)

इस प्रकार उपर्युक्त विपर्यासों को नष्ट करने के लिये चार प्रकार के स्मृत्युपस्थान भी करने पड़ते हैं। इन चारों स्मृत्युपस्थानों में धर्मस्मृत्युपस्थान से ही सभी बाह्य वस्तुओं में अनित्य दुःख एवं शून्य भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। अभिधर्म बतलाता है—

स　धर्मस्मृत्युपस्थाने　समस्तालम्बने स्थितः।
अनित्यदुःखतः शून्यानात्मतस्तान् विपश्यति॥ (अभि०को०६-१८)

धर्मस्मृत्युपस्थान को ही सम्भिन्नालम्बन भी कहते हैं। यह सम्पूर्ण पंच स्कन्धों को सामान्यालम्बन के रूप में निर्देश करता हुआ अन्य सभी स्मृत्युपस्थानों को अपने में ही एकात्मीभूत कर के सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों को अनित्य रूप से, शून्य रूप से, तथा दुःख रूप से समझता है। वह योगी शरीर को परमाणु का संघात मानकर क्षणसन्तान के अन्दर परमाणुओं को एक-एक तथा अलग-अलग क्षण के रूप में देखता है। मनुष्योत्पत्ति के निमित्त कललादि बीजों को अशुचि अंगों से

---

१. कौसीद्यमवसादस्य सम्भाषा लय उद्भवः।
संस्कारानामसंस्कारैश्चैते पञ्चात्यया मताः॥
(आर्यमैत्रेयनाथ कृत मध्यान्तविभाग, सं० छा० ४६)

युक्त एवं मिश्रित मानकर योगी सम्पूर्ण लोक को देखता है और उसमें अनित्यत्वादि की भावना से वह तज्जन्य अहंकार ममकार का नाश करता है। उसके प्रहाण हो जाने पर रागादि दोष भी श्रुतचिन्तामयी प्रज्ञा से नष्ट हो जाते हैं। यह अभिधर्मदीपकार का मत है—

समस्तालम्बिनान्त्येन तान्वेत्य ध्रुवतादिभिः।
क्लेशात्यन्तक्षयोऽन्त्येन संभिन्नालम्बनेन वा ॥
(श्लो० ३८४, पृ० ३१६-१७, अ० ६ पा० १)

इस प्रकार सम्पूर्ण राग क्लेशों का अत्यन्त क्षय किया जाता है। सामान्य रूप से पुनः इन विषयों का दो विभाग किया जाता है—सास्रव तथा अनास्रव। इनमें सास्रव स्कन्धों के उदय-व्यय का साक्षात् दर्शन होता है। अत एव दीपकार कहते हैं—

असंभिन्नार्थविषयं त्रयमेतद् द्विधेष्यते।
तस्यैव पश्यतः साक्षादुदयव्ययदर्शनम् ॥ (श्लो० ३८५, पृ० ३१८)

इस प्रकार इस स्मृत्युपस्थान के रूप में अनित्यकार भावना करने पर संस्कारों में प्रतिक्षण उदय-व्यय का दर्शन होता है। यह दर्शन चक्र की भाँति होता है। फलतः स्कन्धों में अपने संस्कारों को सन्तान के रूप में पाते हैं। फिर भी उनका क्षय नहीं ज्ञात होता। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप हो जाता है और तीनों कालों के संस्कारों में हेतुफल के सम्बन्ध के रूप में अवस्थित देखते हैं और इसी से प्रतीत्यसमुत्पाद का रूप बन जाता है।

स्कन्धेषु जायते चक्रभ्रमरिकादिवत्।
सप्रतीत्यसमुत्पादं स्कन्धानां प्रत्यवेश्यते ॥
(वही श्लो० ३३६, पृ० ३१८-३१९)

प्रतीत्यसमुत्पन्न रूप से इन संस्कारों को जानकर इनकी चतुरार्यसत्यों में से कौन है इस प्रकार की भावना करता है, तथा अनित्यता तथा दुःखतारूप में देखता है। इस प्रकार वह इन सभी रागादिजन्य क्लेशों को स्वतन्त्र कर्ता से रहित शून्य रूप में देखता है। फिर भी अपने वश अव उनके रहने पर भी सहकारी प्रत्ययों से वे अपनी क्रिया करते रहते हैं और इनके अधीन जन्म आदि के होने से अपने को अनात्मा रूप में देखता है। अभ्यासवश इस प्रकार से अपने को अधिष्ठाता तथा परतन्त्र रूप में सदा देखता हुआ किसी भी ईश्वर या परमेष्ठी को नहीं मानता। अत एव सामान्य लक्षणों से युक्त परतंत्र ही संस्कार है। इस प्रकार की परीक्षा के बाद वह सभी धर्मों में नैरात्म्य बुद्धि स्थापित करता है। इस रूप से समाधि-भावना करता हुआ जब प्रज्ञा-बल से वह सभी धर्मों को अनात्म रूप में देखता है तो वह दुःखों से दूर हटकर विशुद्धिमार्ग को प्राप्त करता है। कहा भी है—

सर्वे धर्मा अनात्मानः पश्यति प्रज्ञया यदा।
तदा निर्विद्यते दुःखादेष मार्गो विशुद्धये।
(अभिधर्मदीप में उद्धृत, पृ० ३१९)

सत्येपुपातयित्वातं तदा कश्चित्यदीक्षते।
तदनित्यत्वदुःखत्वे समवेत्य ततः पुनः॥
अकर्तृकान्निरीहांश्च प्रत्ययाधीनसंभवान्।
दृष्ट्वा सर्वेष्वनात्मेति तवत्तकारं नि)षेवते॥
सर्वधर्मे(पु नै)रात्म्ये स्थिरा बुद्धिः प्रवर्तते। (वही, पृ० ३१९)

अब यहां विचार करने की यह एक बात है कि अभिधर्मदीपकार एवं व्याख्याकार यह कहते हैं कि सभी धर्मों को अनात्मा रूप में जब योगी प्रत्यक्ष करता है, तो उनको शून्यरूप में भी क्यों नहीं प्रत्यक्ष करता ?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सुन्दर रीति से निबन्ध की पूर्व कल्पना में ही प्रस्तुत किया गया है, तथापि उसे स्पष्ट करना उचित समझ कर अभिधर्मदीपकार से उसकी सम्मति प्रदर्शित की जा रही है।

प्रायः यह सुस्पष्ट है कि श्रावकयानी पुद्गल पिण्ड में अकुशल चित्तों से आत्म-ग्राह रूप से उसमें जकड़ा हुआ है। अत एव पिण्ड की अपनी स्वरूपसत्ता उन ग्राहों से व्यतिरिक्त भी है, ऐसा मालूम होता है। अत एव दीपकार कहते हैं—

स्वभावेनाविशून्यत्वा(द्) धर्ममुद्रा नु (उ) दाहृते (ता)।
तदुक्त्या च तदुक्तत्वाच्छून्याकारो ण (न) देशितः॥
(वही, पृ० ३९०)

सम्पूर्ण संस्कार मात्र स्वभावशून्य ही नहीं है, क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु प्रभृति के काठिन्यादि गुणों और उनके आधारों का भी प्रत्यक्ष होता है। रागादि के दोष से समुत्पन्न क्लेशों का श्रद्धा आदि गुणों से चित्त के मल की शुद्धि कर दी जाती है, तथापि हरीतकी, चित्रक, दन्ती जैसे के रस, वीर्य एवं विपाक के प्रभाव का दर्शन होने से उन सभी धर्मों की अपनी स्वभावता के कारण सभी की धर्ममुद्रा की भाँति सत्ता होने से शून्यरूप नहीं कहा जाता। यद्यपि सभी धर्म अनात्मरूप से कहे जाते हैं और उसी से उनकी शून्यता भी उक्त मालूम होती है, किन्तु इस कथन से नैरात्म्यवाद की ही मात्र स्थिरता द्योतित होती है।

किन्तु पारमितायान में तो सभी धर्मों की प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर स्थिति होने के कारण उनकी अपने में शून्यता ही प्राप्त की जाती है। अत एव बोधिसत्व पुद्गल ज्ञानसंभारी के बल से शमथ एवं विपश्यना द्वारा वस्तु की शून्यता मात्र का

ज्ञान करता है। यहाँ तक श्रुतचिन्तामयी प्रज्ञा के द्वारा एकाग्रता की बात कही गई है। अब आगे भावनामयी प्रज्ञा का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ज्यों ज्यों कुशल चित्तों का उत्पाद एवं अकुशल चित्तों का निरोध करके चित्त की एकाग्रता साधी जायगी, त्यों त्यों चित्त में कुछ अजीब सा हल्कापन प्रतीत होता है और साधक आगे समाधि के लिए उद्यत होता जाता है। अतः भावनामयी प्रज्ञा के बल से पुनः चार निर्वेधभागीय कुशलमूलों का उत्पाद किया जाता है। ये हैं—ऊष्मधर्म, मूर्धा, सत्यानुकूल क्षान्ति तथा लौकिकाग्रधर्म।

प्रायः सभी इन ध्यानविधियों में पहले चित्त को एकाग्र किया जाता है। फिर क्रमशः काम, वेदना, चित्त आदि धर्मों को अनित्य, दुःख, शून्य एवं अनात्म रूप से भावना करते हुये प्रत्येक संस्कारों में अनित्यदुःखशून्य एवं अनात्म की पारमार्थिक भावना को उत्पन्न किया जाता है। काष्ठ के बार-बार रगड़ने से उत्पन्न अग्नि की भाँति चित्त को भी बुद्धविम्ब में बार-बार एकाग्र करने से परिशुद्ध कुशलमूल श्रद्धा का उत्पाद होता है। फिर इन चारों प्रत्ययों से वह षोडश आकारों वाले चार अभिसत्यों को देखता है। इस प्रकार जब साधन का चित्त वीर्यशाली होकर षोडशाकार कुशल धर्मों में हमेशा आतापी होकर विहार करता है तो उसे ऊष्मधर्म कहते हैं। इसमें भी जब कुशलमूल बढ़ जाता है, तो वह मूर्धा कुशलमूल कहलाता है। सत्यक्षान्ति से अनुगत मूर्धा का नाम ही क्षान्ति कुशलमूल है। यह तीन प्रकार का होता है। उसे अधिमात्र, मध्य तथा मृदु कहते हैं। पुनः विपश्यना के द्वारा जब चारों आर्यसत्यों की चारों दृष्टियों से षोडश आकारों को देखता हुआ योगी कुशलमूलों को बढ़ाता है तो उसे ही लौकिकाग्रधर्म कहते हैं। इस अवस्था में श्रद्धादि पंचेन्द्रियों का उत्पाद कोई-कोई मानते हैं। वस्तुतः चित्त के एकाग्र हो जाने पर ही चित्त और चैतसिकों के धर्म ही लौकिकाग्रकुशलमूल कहे जाते हैं। अभिधर्मसमुच्चय में इन चारों अवस्थाओं को क्रमशः चार समाधियों के रूप में कहा गया है। वे हैं—आलोकलब्ध समाधि, आलोकवृद्ध समाधि, एकदेशप्रविष्टानुसृत समाधि, एवं आनन्तर्यचित्त समाधि। इन प्रत्येक समाधियों में प्रज्ञा का संयोग सदा बना रहता है। पारमितायान में इन चारों समाधियों का निम्नलिखित रूप बतलाया गया है।

धर्मप्रविचय के द्वारा जब समाहित चित्त वाला साधक सभी धर्मों में नैरात्म्य की भावना करने से अर्थों की पृथक् अभिनिविष्ट सत्ता को न पाकर किञ्चित् ज्ञानालोक रूप सत्ता के कारण चित्तमात्र की ही सत्ता को देखता है, तो उसी को आलोकलब्ध समाधि नामक ऊष्मगत अवस्था कहते हैं और जब उसी धर्मालोक की अभिवृद्धि के लिए पुनः उसमें नैरात्म्य भावना की जाती है तो वीर्य का आरम्भ होता है। उस समय उसकी कुछ मध्य आलोक वाली सत्ता होती है। वही वृद्धालोक समाधि नामक मूर्धावस्था

कहलाती है और जब चित्तमात्र की अवस्था बिलकुल स्पष्ट हो जाती है तथा बाह्यार्था-भिनिवेश का अभाव हो जाता है तो मात्र ज्ञानालोक उत्पन्न होता है। वही सत्त्वार्थकदेशप्रविष्ट समाधि नामक क्षान्त्यवस्था कहलाती है। इस प्रकार जब अर्थों को ग्रहण करने वाले विक्षेपों को ज्ञानालोक ही निष्पन्न करने लगता है, तो उनको आनन्तर्यसमाधि नामक लौकिकाग्रधर्मावस्था कहते हैं। महायानसूत्रालंकार में भी इन निर्वेध भागियों के विषय में लिखा हैं—

ततश्चासौ तथाभूतो बोधिसत्त्वः समाहितः।
मनोजल्पाद् विनिर्मुक्तान् सर्वार्थान् प्रपश्यति॥
धर्मलोकस्य वृद्ध्यर्थं वीर्यमारभते दृढम्।
धर्मालोकविवृद्ध्या च चित्तमात्रेऽवतिष्ठते॥
सर्वार्थप्रतिभासत्वं ततश्चित्ते प्रपश्यति।
प्रहीणो ग्राह्यनिक्षेपस्तदा तस्य भवत्यसौ।
ततो ग्राहकविक्षेपः केवलोऽस्यावशिष्यते।
आनन्तर्यसमाधिश्च स्पृशत्याशु तदा पुनः॥

ये उपर्युक्त कुशलमूल ही निर्वेधभागीय कुशलमूल की संज्ञा पाते हैं। यहाँ से आर्यमार्ग प्रारम्भ होता है। इन कुशलमूलों में दुःखसत्यों का वेध किया जाता है। अत एव वे निर्वेधभागीय कहे जाते हैं। अभिधर्म-कोश-भाष्यकार निर्वेधभागियों की व्याख्या निम्न प्रकार से करते हैं—"निर्वेधभागीयानिति कोऽर्थः? विध विभागे निश्चितो वेधो निर्वेधः आर्यमार्गः, विचिकित्साप्रहाणात् सत्यानां च विभजनादिदं दुःखमयं यावद् मार्ग इति। तस्य भागो दर्शनमार्गैकदेशः। तस्यावाहकत्वेन हितत्वान्निर्वेधभागीयान्" इति (अभिधर्मदीप, पृ० ३९० में उद्धृत)।

पश्चात्तु खलु निर्वेध आर्यमार्गाह्वयस्ततः।
स यस्मान्निश्चितो वेधस्तस्मान्निर्वेध उच्यते॥
(वही, पृ० ४२२, श्लो० ४२२)

इस प्रकार लौकिकाग्रधर्म से अनास्रवलोकोत्तरधर्ममात्र का अवलोकन करने वाली दृष्टि उत्पन्न होती है। सूत्र में कहा भी गया है—

"लौकिकाग्रधि(ध)र्मानन्तरं समं नियममवक्रामति, यदवक्रान्तौ पृथग्जनभूमिं समतिक्रामति" इति। (अभिधर्मदीप पृ० ४३२–३३ में उद्धृत)

अभिधर्मकोश में भी कहा है—

लौकिकेभ्योऽग्रधर्मेभ्यो धर्मक्षान्तिरनास्रवा।
कामदुःखे ततोऽत्रैव धर्मज्ञानं तथा पुनः॥

ऊष्मगतादि चतुर्निर्वेदभागीय कुशलमूलों के आधार पर दुःखादि में धर्मज्ञान-क्षान्ति आदि पंचदश क्षणों वाले दर्शनमार्ग की उत्पत्ति होती है। फिर भावनामार्ग के अधिगम से त्रैधातुकों के क्लेशोपक्लेश राशि के नाश होने से आर्यसत्यों के क्षय के अनुत्पाद का ज्ञान होता है। इसमें ही आर्य पुद्गल क्लेशों का क्रमशः प्रहाण करता हुआ विमुक्तिमार्ग का आश्रयण करने वाली वज्रोपम समाधि का लाभ करता है। तदनन्तर क्रमशः अध्याशयानुसार अर्हत् तथा बुद्धत्व का लाभ होता है। किन्तु इस अर्हत्व और बुद्धत्व की अवस्था तक पहुँचने में अनेक जन्म लग जाते हैं। अत एव पुद्गल मन्त्रयानी साधन-पथ में प्रवृत्त होता है।

प्रायः यह देखा जाता है कि जैसा कार्य होता है, उसकी प्राप्ति के लिये उसी प्रकार का उपादान कारण भी आवश्यक होता है, क्योंकि अन्य सहायक कारण चाहें कितने भी हों, तथापि कार्य की निष्पत्ति तब तक नहीं होती जब तक कि उपादान कारण वर्तमान न रहे। ठीक इसी प्रकार पारमिता यान में बुद्धत्व प्राप्ति के लिये दो प्रकार के संभारों का अर्जन किया जाता है। वे है—पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार। पुण्यसंभार के पूर्ण होने पर रूपीकाय तथा ज्ञानसंभार के पूर्ण होने पर धर्मकाय की प्राप्ति होती है। रूपीकाय के द्वात्रिंशत् लक्षणों के प्रसाधक हेतुओं की चर्चा करते हुये आचार्य हरिभद्र ने अभिसमयालंकारालोक में लिखा है—

यस्य यस्यात्र यो हेतुर्लक्षणस्य प्रसाधकः।
तस्य तस्य प्रपूर्यायं समुदागमलक्षणः॥
गुरूणामनुयानादिर्दृढता संवरं प्रति।
संग्रहासेवनं दानं प्रणीतस्य च वस्तुनः॥
वध्यमोक्षसमादानं विवृद्धिः कुशलस्य च।
इत्यादिको यथासूत्रं हेतुर्लक्षणसाधकः॥

(अभि० २६ परिवर्त)

अर्थात् उपर्युक्त रूपीकाय (संभोगकाय) के जो लक्षण हैं, उनके प्रसाधक हेतुओं को पूर्ण करने पर आर्य पुद्गल उनका अधिगम करता है। साधक को गुरु की विदाई, स्वागत एवं सेवा आदि अपने प्रतिज्ञात शील का दृढतापूर्वक पालन, चार संग्रह वस्तुओं का सेवन, अपनी प्रियतम वस्तु का भी दान, वध्य होने वाले पशुओं आदि की भक्ति, कुशल कर्मों का ग्रहण एवं उसका प्रचार आदि उपर्युक्त लक्षणों के साधक हैं। इन कर्मों से पुण्यसंभार की प्राप्ति होवी है। इसी प्रकार जगत् की परिकल्पित सत्ता के ज्ञान होने से ज्ञानसंभार की प्राप्ति होती है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के प्रहाण से वस्तु की तथता का साक्षात्कार हो जाता है। ज्ञानसंभार के बल से ज्ञानधर्मकाय की प्राप्ति होती है। अत एव बोधिसत्व को सम्पूर्ण पारमिताओं का सम्पादन करना पड़ता है। पारमिताओं में दान और शील के पूर्ण करने पर पुण्यप्रज्ञा के पूर्ण करने

पर ज्ञान तथा अन्य तीन ध्यान, क्षान्ति और वीर्य से दोनों संभारों की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार भूमियों की भी पूर्णता आवश्यक है।

यह ठीक है कि साधक इन संभारों का अर्जन करता हुआ क्रमशः संभोगकाय तथा धर्मकाय को प्राप्त करता है, तथापि यह कार्य कहने मात्र से पूर्ण होने योग्य नहीं है, क्योंकि पारमितायानी साधक गुरु के गुणों का क्रमशः अनुकरण करता हुआ बुद्धरूप गुरु की पूर्णता को बहुत दिनों में ही प्राप्त कर सकता है। वज्रयानी साधना की इसमें कुछ अपनी ही विशेषता है, क्योंकि वह कहता है कि मनुष्य सदा अपने श्वासों एवं प्रश्वासों के साथ ही रहता है। चाहे वह जीवित हो या परिनिर्वृत, उसकी चित्तसन्ततियों के साथ श्वास-प्रश्वासों का भी गमन तथा आगमन होता है। अत एव वज्रयानी साधक इन श्वास-प्रश्वासों को ही रूपीकाय (संभोगकाय) का उपादान कारण मानता है और धर्म के स्वरूप को जानने वाली प्रज्ञा का शून्यता दृष्टि से बोध करता हुआ क्रमशः धर्मकाय को प्राप्त करता है।

वज्रयानी साधक अब उपर्युक्त विधि के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का विश्लेषण शुरू करता है। वह कहता है कि जिस प्रकार समस्त भू-मण्डल मेरु पर्वत पर आधारित है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर भी मेरुदण्ड अथवा रीढ़ पर आधारित है। यह कटिभाग से लेकर शिर तक जाती है। शिर में ही सहजरूपात्मक तथतास्वरूप बुद्ध का निकेतन है, जिसका ज्ञान योग-साधना के द्वारा होता है। अब साधक इस मेरुदण्ड के शीर्ष पर विराजमान बुद्ध तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिये इन श्वास-प्रश्वासों का सहारा लेता है। उस सहजतत्त्व तक पहुँचाने वाली नाड़ी को अवधूती कहते हैं। यह शरीर में ही विद्यमान है। किन्तु अवधूती का जागरण करना पड़ता है। इसे ही हिन्दू तान्त्रिक कुण्डलिनी जागरण कहते हैं। इस अवधूती के दाँयें और बाँयें दो नाड़ियाँ होती हैं, जिन्हें रसना तथा ललना कहते हैं। इन्हीं को दर्शन की भाषा में उपाय तथा प्रज्ञा भी कहा जाता है। इन रसना और ललना का समन्वय अवधूती में होता है। इन्हीं नाड़ियों के ऊपर तथा नीचे की ओर श्वास-प्रश्वास आया जाया करते हैं। वे प्राण स्वरूप हैं। इन दोनों को नियन्त्रित करके अवधूती का जागरण करना पड़ता है। किन्तु यह काम बहुत आसान नहीं है। क्योंकि जब तक मनुष्य के विचार नियन्त्रित नहीं हो जाते हैं, तब तक यह श्वास-प्रश्वास यों ही आया जाया करते हैं। अत एव अपने विचार या मन को संयमित करने के लिये हमें वाम नाड़ी ललना में आलि अर्थात् षोडश स्वरों का, तथा दक्षिण नाड़ी रसना में कालि अर्थात् व्यंजनों का गमनागमन कल्पित करना पड़ता है। ये दोनों नाड़ियाँ जहाँ जाकर मिलती हैं, उसे अवधूती कहते हैं। वही प्रज्ञोपाय का मिलन-स्थल है। ये स्थल देह के नाभिप्रदेश, हृदयप्रदेश तथा शिरःप्रदेश में होते हैं। इन स्थलों पर विभिन्न नाड़ियों की संधिस्थली के कारण उनकी चक्ररूप में

कल्पना की गई है। वे चक्र विभिन्न कमल दलों वाले हैं। नाभिप्रदेश को निर्माणचक्र कहते हैं, यह चौसठ दलों वाला होता है। हृदयप्रदेश को धर्मचक्र कहते हैं, यह आठ दलों वाला होता है। कण्ठप्रदेश को संभोगचक्र कहते हैं, यह सोलह दलों वाला होता है, और शिरःप्रदेश को महासुखचक्र कहते हैं। वह बत्तीस दलों वाला होता है। इनमें से नाभिचक्र में ललना, रसना और अवधूती नाड़ियों का संगम होता है। ललना वाम भाग से तथा रसना दक्षिण भाग से आकर अवधूती से मिलती है। वह अवधूती ऊपर की तरफ जाती है। जब ललना तथा रसना मन को केन्द्रित करते हुए अवधूती में मिलती हैं, तो वह बोधिचित्त रूप अवधूती को जागृत करती है। वह बोधिचित्त शुक्र-स्वभावात्मक होता है। वह उद्‌बुद्ध बोधिचित्त महासुख-रूप ब्रह्मरन्ध्र में स्थित बोधिचित्त से मिलने के लिये ऊपर चलता है। वहाँ वह चन्द्र कहलाता है। जब ललना तथा रसना पूर्णरूप से संयमित कर दी जाती हैं, तो श्वास-प्रश्वास बिलकुल शांत हो जाते हैं, तथा नाड़ियाँ नियन्त्रित हो जाती हैं। यह प्रज्ञा तथा उपाय स्वरूप होने के कारण शान्त होकर नाभि में बोधिचित्त के रूप में मिलते हैं। इस प्रज्ञा और उपाय के मिलन को चण्डाली कहते हैं। वह अग्निस्वरूप होती है। वही 'अ' वर्ण के रूप में नैरात्म्या, डोम्बी एवं अवधूती के रूप में भी कही जाती है। अग्निस्वभाव की होने के कारण चण्डाली ऊर्ध्वगमन करती हुई क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ तथा शिरो देश को चली जाती है। वहाँ उष्णीषकमल जो महा-सुखरूप, बोधिचित्त या चन्द्ररूप होता है, उसमें अग्निरूप चाण्डाली मिलती है। फलतः चन्द्रमा का स्रवण होता है। वहाँ शान्त होकर वह 'हँ' स्वरूप को धारण करती है। पुनः वह नीचे की तरफ अन्य चक्रों से होती हुई पूरे शरीर का चक्कर लगाती है और वह निर्माणचक्र में पहुँच कर 'अ' तथा 'हँ' रूप को एक में मिलाकर अहंरूप वाली होती है। इस स्वरूप को प्राप्त करने में गुरु-कृपा की महती आवश्यकता है। अत एव उनके अनुसार मण्डल, मुद्रा, ध्यान, जप आदि सम्पन्न करना होता है तथा पूर्णावस्था का लाभ होता है। इसीलिये सरहपाद कहते हैं—

एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु गंगासाअरु।
एत्थु प्रयाग वाराणसी, एत्थु ते चन्ददिवाअरु ॥
वरवेत्थु पीठ उपपीठ, एत्थु महममह परिटढओ।
देह सरिसऊ तित्थ, महं सुह अण्ण (सुणेहु) ण दिट्ठजो ॥ (दोहा कोश)

जब मन शान्त हो गया तो शरीर के सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और जब साधक को सहज चतुर्थ अवस्था का स्वाद मिल जाता है तो उसके लिये न कोई ब्राह्मण होता है और न अब्राह्मण ही। उसके शरीर में ही गंगा, यमुना नदियों का वास है, वहीं प्रयाग तथा वाराणसी हैं, उसी में सूर्य तथा चन्द्र हैं। हमने सभी तीर्थ स्थानों का भ्रमण कर लिया। हमारे भ्रमण करने के लिये कोई तीर्थ स्थान नहीं छूटा। मैंने अपने शरीर की भाँति एक और भी आनन्दस्थली देखी है।

ठीक इसी प्रकार देह में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वास है। इसकी यथार्थता शिवसंहिता के द्वितीय पटल के प्रारम्भ में देखने को मिलती है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः।
ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः॥

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत (स्कन्ध २ अध्याय ५) में ब्रह्माण्डरूपी विराट् शरीर का यह वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि कटिदेश से ऊपर सात लोक हैं, तथा कटिदेश से नीचे भी सात लोक हैं—

स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्मीय निर्गतः।
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्॥
यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्ध्वं जघनादिभिः॥
भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लोको महात्मनः॥
ग्रीवायां च जनर्लोको तपोलोको स्तनद्वयात्।
मूर्धभिः सत्यलोकश्च ब्रह्मलोकः सनातनः॥
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमुरुभ्यां वितलं प्रभो।
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यां च तलातलम्॥
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलम्।
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्॥

इसी प्रकार हिन्दु तन्त्रों में भी छः चक्रों का वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु बौद्धों में छः चक्रों के बजाय चार चक्रों का वर्णन ही प्रचुरतया मिलता है और केवल चार ही नहीं, अपितु चार की संख्या में अन्य अन्यान्य यौगिक विधान 'हेवज्र-तन्त्र' में प्रस्तुत किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं—

"सम्बरभेदश्च कथ्यते । आलि-कालि-चन्द्र-सूर्य-प्रज्ञोपाय-धर्म-संभोग-नर्माण महासुखकायवाक्चित्तम् । एवं मया—

एकारेण लोचना देवी वंकारेण मामकी स्मृता ।
मकारेण पाण्डुरा देवी च याकारेण तारणी स्मृता ।।

निर्माणचक्रं पद्मं चतुष्षष्टिदलम् । धर्मचक्रे अष्टदलम् । संभोगचक्रे षोडशदलम् । महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलम् । चक्रसंख्याक्रमेण व्यवस्थापनम् । चत्वारः क्षणाः—विचित्रः, विपाकः, विमर्दः, विलक्षणश्चेति । चत्वारि अङ्गानि—सेवा, उपसेवा, साधना, महासाधना चेति । चतुरार्यसत्यानि—दुःख-समुदय-निरोधमार्गाश्चेति । चत्वारि तत्त्वानि—आत्मतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं देवतातत्त्वं ज्ञानतत्त्वं चेति । चत्वारः आनन्दाः—आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति । चत्वारो निकायाः—स्थावरी, सर्वास्तिवादः, संविदी, महासंघी चेति । चन्द्रसूर्य आलि कालि षोडश संक्रान्तिश्चतुःषष्टिदण्डो द्वात्रिंशन्नाडी चत्वारः प्रहाराः एवं सर्वे चत्वारः ।

चण्डाली ज्वलिता नाभौ दशति पञ्चतथागतान् ।
दहति च लोचना नाडी दग्धेऽहं स्रवते शशी ।।

(हेवज्र, भाग १ पटल १)

इस प्रकार उपर्युक्त चार कायों एवं चार चक्रों आदि चार चार के समुदायों के अनुसार जो जो उपदेश दिये गये हैं, उन सभी का अधिगम द्वारा चण्डाली का जागरण होता है। वह चण्डाली 'अ' मातृक के रूप में नाभिदेश में अवधूति के रूप में विख्यात है । जो पुंप्रकृति के रूप में बोधिचित्त तथा स्त्रीप्रकृति के रूप में 'नैरात्म्या देवी' के रूप में कल्पित है । वह सुखरूप बोधिचित्त से उष्णीष-कमल में मिलती है । इसके सहज रूप में आपन्न होने से सम्पूर्ण कायवाक्चित्तरूप पिण्ड की शाश्वत रक्षा होती है। यह अकार मातृका ही मन्त्र है, क्योंकि अरूप बोधिचित्तोत्पाद से ही पुद्गल का त्राण होता है और सहजतत्त्व तक जाने का मार्ग खुल जाता है । अत एव पुद्गल के मन का रक्षक होने के कारण वह अकार ही मन्त्र है, क्योंकि वह परमाक्षर है । मूलतन्त्र में कहा है—

कायवाक्चित्तधातूनां त्राणभूतो यतस्ततः ।
मन्त्रार्थी मन्त्रशब्देन शून्यताज्ञानमक्षरम् ।।
पुण्यज्ञानमयो मन्त्रः शून्यताकरुणात्मकः ।

(सेकोद्देशटीका, पृ० ६९)

अकारमन्त्र ही धर्मधातु आदि विभिन्न रूपों वाला है । इसे 'मूलतन्त्र' में ही निम्न प्रकार का बतलाया गया है—

अकारसंज्ञकः प्रोक्तो धर्मधातुर्महाक्षरः।
वज्रयोनिर्जिनेन्द्राणां कायवाक्चित्तकारणम् ॥

तथता भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसम्भवः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ॥

महाप्राणो ह्यनुत्पादो वाक्यताहारवर्जितः।
सर्वाभिलापहेत्वग्रः सर्ववाक् सुप्रभास्वरः ॥

कायवाक्चित्तनिष्पत्तिस्त्रिवज्राभेद्यधर्मिणी ।
यस्याः सा जिनकायानां वज्रयोनिः प्रगीयते ॥

सर्वैश्वर्यादिधर्माणां बुद्धानामुदयो यतः।
स धर्मोदय आख्यातः पुण्यज्ञानमयः परः ॥

(सेको० टीका, पृ० ६९–७०)

इस 'अ' स्वरूपात्मक बोधिचित्त की सिद्धि रहस्यात्मक होने के कारण गुरुमुखैकवेद्य है। मन्त्रयान में गुरु की बड़ी विशेषता बतलायी गयी है। इसकी अन्य यानों से भी विशेषता बतलायी गयी है। अद्वयवज्रसंग्रह में लिखा है—मन्त्रनय अत्यन्त गंभीर है। अत एव गंभीर नय को ग्रहण करने वाले पुरुषों का विषय है। इसमें चतुर्मुद्रादि का प्रकाशन अत्यन्त विस्तार पूर्वक होने से सभी के उपदेश योग्य नहीं है। अत एव तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गलों के द्वारा वेदनीय है। कहा भी है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहात् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

(अद्वयवज्र, पृ० २१)

पहले हम कह चुके हैं कि पारमितायान तथा वज्रयान के उद्देश्य (फल) में भेद नहीं है। इन दोनों यानों का उद्देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। किन्तु उस बुद्धत्वरूपी उद्देश्य को प्राप्त करने के उपाय में महान् अन्तर है। गुह्य वज्रयान में रूप का असाधारण हेतु गंभीर उपाय होता है। पारमिता यान में रूप का आसाधारण हेतु गंभीर उपाय न होकर बोधिचित्त एवं षट्पारमिता मात्र है। गुह्य वज्रयान का वह गंभीर उपाय अपने इष्ट देव से योग की भावना है। इसके द्वारा फल अवस्था में प्राप्त होने वाले रूपकाय की आकृति एवं स्थान आदि की अपनी आकृति एवं स्थान आदि से समानता है। यह ठीक ही है, क्योंकि 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' यह साधन का प्रधान उद्घोष है। अत एव अपने स्वरूप को देव के समान बनाकर पुनः उसकी (देव की) पूजा करनी चाहिये। इसी लिये पंच ध्यानी बुद्धों की भावना आदि का प्रदर्शन किया जाता है।

अब इस पृष्ठभूमि पर 'गुह्य वज्रयान के योग' का तात्पर्य क्या है ? इस पर थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। गुह्य[1] शब्द की व्याख्या करते हुये बतलाया गया है कि काय, वाक् तथा चित्त ये तीन प्रकार के गुह्य हैं। ये बोधिचित्त से भेद्याभेद्य स्वभाव वाले हैं। वज्र[2] की व्याख्या में भी बतलाया जाता है कि वज्र शून्यरूप हीरा है, जो अच्छेद्य, अभेद्य, अप्रवेश्य, अदाह्य, अविनाश्य तथा दृढ़ है और [3]वज्रयान का अर्थ सभी तथागतों का ज्ञान बतलाया गया है। इसी प्रकार योग[4] को प्रज्ञा तथा उपाय की समापत्ति (पूर्णतायोग) माना गया है।

अब वज्रयोग क्या है ? इसके स्पष्टीकरण के लिये विमोक्षों की पूर्णता किस रूप से होती है, इसका विभिन्न यानों के आधार पर वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसा कि श्रावकयान एवं पारमितायान की चर्चा में कहा गया था कि दर्शन मार्ग के सोलह क्षणों में से १५ क्षणों के अनन्तर भावना मार्ग प्राप्त होता है और उसके अन्तिम क्लेश का अधिमात्र। अधिमात्र भावना मार्ग के द्वारा क्रमिक श्रावक 'वज्रोपम समाधि' का अधिगम एवं पारमिता यान के बोधिसत्त्व को भावनामार्ग के द्वारा नौ भूमियों की पूर्णता के पश्चात् १०वीं भूमि में 'चरमभविक आनन्तर्य मार्ग' की उपलब्धि होती है, जो 'वज्रोपम समाधि' के समान है। जिसके द्वारा अतिसूक्ष्म क्लेशों का नाश कर दिया जाता है, वही बुद्धत्व का अधिकारी होता है। ऐसी ही प्रक्रिया वज्रयान की भी है, किन्तु इस वज्रोपम समाधि के प्राप्त होने के पूर्व ही विमोक्षों का लाभ करना पड़ता है और तब वज्रोपम की अवस्था प्राप्त होती है।

अब तीनों विमोक्षों का तीनों यानों के अनुसार वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। आर्य असंगपाद कृत महायानसंग्रह में लिखा है —

"यत्र शून्यता अनिमित्तता अप्रणिहितता निर्विशेषेण रूपेण कथिता, तत्र तु श्रुतचिन्तनभावनामयी प्रज्ञा एव वेदितव्या। यत्र ताभिः सह समाधिशब्द उक्तस्तत्र तु भावनामयी लौकिकालौकिका एव प्रज्ञा वेदितव्या। यत्र च ताभिः सह विमोक्षद्वारः कथितः, तेन तु केवलमलौकिकेव प्रज्ञा वेदितव्या" (संस्कृत छाया)।

इन तीनों सूत्रों को समझने के पूर्व विमोक्षों को समझ लेना आवश्यक है। विमोक्ष मुक्ति के द्वार हैं। विमुक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—चेतोविमुक्ति तथा

---

१. त्रिविधं कायवाक्चित्तं गुह्यमित्यभिधीयते। (गुह्यसमाज, पृ० १५२)

२. दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम्।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ (अद्वयवज्रसंग्रह)

३. सर्वताथागतं ज्ञानं वज्रयानमिति स्मृतम्। (ज्ञानसिद्धि, १३७)

४. प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते। (गुह्यसमाज, पृ० १५३)

प्रज्ञाविमुक्ति। चूंकि चित्त की निर्मलता प्राप्त कर लेने पर ये विमुक्तियां सम्पन्न होती हैं, अत एव ये विमोक्ष कहे जाते हैं—

विमुक्तेर्द्विप्रकारायाः प्राप्तये निर्मला पुनः।
विमोक्षसु(मु ?)खशब्देन त एवाविष्कृतास्त्रयः ॥
(अभि० दीप, पृ० ४२४ श्लो० ५८३ अ० ८ पा० ३)

इन समाधियों के आधार पर शून्यता का साक्षात्कार किया जाता है। जैसे घट की निष्पत्ति में घट का स्वरूप, घट का कारण, एवं घट का फल आदि का ज्ञान व्यक्ति आवश्यक रूप से कल्पित करके रखता है, उसी प्रकार इन तीनों के आवश्यक शून्यता के ज्ञान को विमोक्ष कहते हैं। वास्तव में ये तीनों शून्य रूप ही हैं और शून्यता ही परमार्थ है, तथापि घटादि धर्मों की स्वरूपशून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान शून्यता, विमोक्षसमाधि हेतु की शून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान अनिमित्त विमोक्षसमाधि, एवं फल की शून्यता का साक्षात्कार करने वाला ज्ञान अप्रणिहित विमोक्षसमाधि कहा जाता है। इनके नामान्तर भी पाये जाते हैं। राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र में लिखा है कि शून्यता के शान्त, अनुत्पन्न स्वरूप को न जानने से पुद्गल संसार में भ्रमण कर रहा है—

शून्यतायाश्च शान्तमनुत्पादनयमविजानदेव जगदुद्भ्रमति।
तेषामुपायनययुक्तिशतैरवतारयन्त्यपि कृपालुतमाः ॥
(राष्ट्रपालपरिपृच्छा, द्वितीय परिवर्त, श्लोक संख्या ३०, महायानसूत्रसंग्रह)

महायान सूत्रालंकार में चतुर्विध धर्मसंवर को त्रिविध विमोक्ष समाधियों का आलम्बन माना गया है। चतुर्विध धर्मसंवर निम्न हैं—

(१) सर्वसंस्कृत अनित्य (२) सर्वसास्रव दुःखस्वरूप (३) सर्वधर्म शून्यता और अनात्मस्वरूप (४) निर्वाण शान्तरूप।

इनमें से संस्कृत अनित्य और सर्वसास्रव दुःख इन दोनों को अप्रणिधान विमोक्ष समाधि का आश्रय कहा गया है। सर्वधर्मशून्यता और अनात्मस्वरूप को शून्यताविमोक्ष समाधि का आलम्बन निर्देशित किया गया है और निर्वाणं शान्तं को अनिमित्त विमोक्ष समाधि का आश्रय कहा गया है।[1] इसका सुस्पष्ट वर्णन

---

१. समाध्युपनिषत्त्वेन धर्मोदानचतुष्टयम्।
देशितं बोधिसत्त्वेभ्यः सत्त्वानां हितकाम्यया ॥
तत्र सर्वसंस्कारा अनित्याः सर्वसंस्कारा दुःखा इत्यप्रणिहितस्य समाधेरुपनिषद्भावेन देशितम्।
सर्वधर्मा अनात्मान इति शून्यतायाः शान्तं निर्वाणमिति अनिमित्तस्य समाधेः।
(महायान सूत्रालंकार)

भोटमहापण्डित पुण्यकीर्तिकृत प्रज्ञापारमिता अभिसमयालंकार व्याख्या में मिलता है। (शेस्-ख्-क्यी-फ-रोल्-तु-वियन्-पा-मन्-डग्-गी-व-स्तन्-वचोस् मड-गेन-पर-सोगस्-पजी-एयन्-ग्यी-रनम् वशद् । पन्-छेन्-वरसोद्-नमस्-गरगस-पस-मजद-पा) ।

इन महायान शास्त्रों में आर्य सत्यों के सोलह विशेषणों या आकारों को आलम्बन करने वाली विमोक्ष समाधि को साधारण विमोक्ष समाधि और पूर्वोक्त तीन भेदों को आलम्बन करने वाली समाधि को असाधारण विमोक्ष समाधि कहते हैं। इस विषय पर स्थूल, सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर दृष्टियों के विभेद से आलम्बन के कारण श्रावकयान, पारमितायान तथा तन्त्रयान तक का क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

वैभाषिकों ने चार आर्य सत्यों को चार चार विशेषणों से युक्त करके १६ विभाग में विभाजित कर दिया है। उनका तीन विमोक्ष समाधियों के रूप में वे ध्यानलाभ करते हैं। 'अभिधर्मदीप' में सुस्पष्ट कहा है—

दशाप्रनि(णि)हितकाराः शून्यताया द्वयं मतम् ।
अनिमित्तो मृताकारैश्चतुर्भिः संप्रवर्तते ॥
(अभिधर्मदीप, पृ० ४२४, श्लो० ५८२)

इनमें अप्रणिहित समाधि दुःख आर्य सत्य के अनित्यदुःख-समुदय आर्यसत्य के चारों एवं मार्ग के भी चारों विशेषणों अर्थात् १० विशेषणों से युक्त होती है। शून्यता समाधि, शून्य और अनात्म मात्र का आश्रयण करने वाली होती है। इसी प्रकार अनिमित्त समाधि निषेध के चार विशेषणों से युक्त होती है। ये महायान में भी होते हैं, किन्तु इनके साथ-साथ पूर्वोक्त तीन विमोक्षों, अर्थात् वस्तुओं की स्वभावशून्यता, कारणशून्यता और कार्यनिःस्वभावता के ज्ञान से सभी धर्मों की तथता का ज्ञान हो जाता है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण का समूल नाश हो जाता है और विशुद्ध, शान्त, चित्त निःस्वभाव रूप से शून्य में प्रतिभासित होता है। फलतः सम्पूर्ण वस्तुओं के निःस्वभावता के ज्ञान के कारण सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। फलतः वह बुद्धत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार वैभाषिकों के द्वारा मात्र क्लेशावरण का नाश होने पर निर्वाण के अधिगम का मार्ग खुल जाता है। वस्तुतः इन तीनों समाधियों के प्रत्यक्ष लाभ होने पर श्रावकयान एवं पारमितायानों में वज्रोपम-नामक अवस्था का लाभ होता है। यह आनन्तर्य मार्ग के अनित्य क्षण की अवस्था है। यह समाधि वज्र की भाँति सभी अनुशयों का नाश कर देती है। इसलिये वज्र की समानता होने के कारण इसे वज्रोपम समाधि कहते हैं।

इसी के बाद अर्हत्पद की प्राप्ति होती है। अभिधर्मकोशभाष्य में लिखा भी है—"वज्रोपमसमाधेरनन्तरं पश्चिमो विमुक्तिमार्गः। अत एव तत् क्षयज्ञानम्। (A. K. V. Vi 45a पर उद्धृत)

चूँकि पारमिता यान में सभी विकल्पों का पूर्ण रूप से नाश करके इस अवस्था की प्राप्ति होती है, अत एव यह विकल्पानुशयों से अभेद्य होने के कारण 'वज्रोपम समाधि' कहलाती है। इसके अनन्तर सर्वाकारज्ञता स्वरूप अनुत्तर पद का लाभ होता है, जहाँ से सम्पूर्ण विश्व का कल्याण सम्पन्न होता है।

वज्रोपमं समाधानं विकल्पाभेद्यमेत्य च।
निष्ठाश्रयपरावृत्तिं सर्वावरणनिर्मलाम्॥
सर्वाकारज्ञतां चैव लभतेऽनुत्तरं पदम्।
यत्रस्थः सर्वसत्त्वानां हिताय प्रतिपद्यते॥

(महायानसूत्रालंकार, पृ० ९६)

इस प्रकार दोनों अर्थात् श्रावकयान एवं पारमितायानों में वज्रोपम की मात्र चर्चा चर्चित है। लगता है कि यही वज्रोपम की परम अवस्था को वज्रयान ने पूर्णरूप से अवतरित कर दिया है। वज्रयान में इस वज्रोपम समाधि की अवस्था का जो ज्ञान है, वह वज्रयोग के स्वरूप की अवस्था है, क्योंकि वज्रयोग प्राप्ति के पूर्व वज्रयान में विमोक्षों की प्राप्ति आवश्यक है और चूँकि वज्रयानी साधक गुरु-कृपा से एक पिण्ड में समग्र ब्रह्माण्ड की अवस्थिति को देखता है, अत एव उस पिण्ड को भी वज्रवत् मानकर क्रमशः उसके चार विभाग कर देता है। वह अपनी सत्ता का ही काय-वाक्-चित्त और ज्ञानरूप से विभाजन करके क्रमशः कायवज्रयोग, वाग्वज्रयोग, चित्तवज्रयोग एवं ज्ञानवज्रयोगों का लाभ करता है। इनके नामान्तर भी क्रमशः संस्थानयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग एवं विशुद्धयोग रूप से हैं। इन वज्रयोगों में दिव्य भावों का आविर्भाव होता है और वह सहजानन्द से युक्त रहता है। इस प्रकार बुद्ध के चार कायों का भी क्रमशः अपनी सत्ता के स्वरूप में अनुभूति करता है। निर्माण, संभोग, धर्म और सहजकाय उसके वज्र शरीर में ही विराजमान हो जाते हैं। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष करता रहता है। उपेक्षा-मुदिता-मैत्री-करुणा नामक ब्रह्मविहारों से समन्वित हो जाता है। इन अवस्थाओं के प्राप्त हो जाने पर योगी का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा हो जाता है। अत एव इन चारों का प्रतिव्यक्ति के रूप में पूर्णता की दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

प्रथम वज्रयोग को विशुद्ध योग कहते हैं। इसमें शून्यता-विमोक्ष की प्राप्ति के अनन्तर ही समाधि-लाभ होता है। शून्यता का तात्पर्य निःस्वभावता है। यह शून्यता समाधि के तरह की होती है। इसकी प्राप्ति के अनन्तर तुरीय अवस्था का

क्षय, अक्षर महासुख का उदय, प्रज्ञोपायरूप सहजकायात्मक ज्ञान वज्रयोग का लाभ होता है। यही विशुद्ध योग है।

द्वितीय वज्रयोग को धर्मयोग कहते हैं। इसमें अनिमित्त विमोक्ष का लाभ किया जाता है। यह पारमितायान अनिमित्त समाधि की अवस्था है। इसकी अवाप्ति के अनन्तर सुषुप्तिका क्षय, नित्यानित्य द्वय ग्राहों से रहित मैत्री चित्त का उद्भव, जगत् के कल्याण की सहज भावना आदि का उद्भव हो जाता है। यह चित्त-वज्रयोग भी प्रज्ञोपायात्मक ज्ञानकायरूप है।

तृतीय वज्रयोग को मन्त्रयोग कहते हैं। इसमें अप्रणिहित विमोक्ष का लाभ करना पड़ता है। अप्रणिधान शब्द से 'सम्बुद्धो भवामीति' भावना का प्रतिषेध किया जाता है। इसके सम्पन्न होने पर स्वप्न का क्षय एवं अनाहत ध्वनि उत्पन्न होती है, जो सभी सत्त्वों में मुदिता का संचार करने की भावना उत्पन्न करती है। इस प्रकार यह अवस्था संभोगकायस्वरूप, प्रज्ञोपायस्वरूप एवं मन्त्रयोगस्वरूपात्मक होती है।

चतुर्थ वज्रयोग का नाम संस्थान योग है। इसमें अनभिसंस्कार नामक विमोक्ष का लाभ करना पड़ता है। इससे एक प्रकार का दिव्य ज्ञान उद्धृत होता है, जो जाग्रत् अवस्था का क्षय करता है। यह निर्माणकायरूप है। यह भी प्रज्ञोपाय-स्वरूप ही है। इसी को उपेक्षा रूप कायवज्र भी कहते हैं। सामान्य रूप से यही वज्रयोग है। जिसकी प्राप्ति का एक संक्षिप्त दृष्टिकोण यहाँ प्रस्तुत किया गया है॥
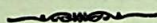
मृगेन्द्रागम का योग

श्री एन. एच. चन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसन्धाता योगतन्त्रविभाग, वा. सं. वि. वि. वाराणसी।

आगम साधना में दीक्षा अत्यन्त आवश्यक है। मृगेन्द्र आगम में पुत्रक, आचार्य आदि दीक्षा के पश्चात् योग का आश्रय लेकर जिस परम वस्तु को दीक्षा के समय प्राप्त किया जाता है, उसका बोध प्राप्त करने के लिये योग की आवश्यकता है। अतः विभिन्न प्रकार की साधनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। आगम सिद्धान्त केवल वस्तुप्राप्ति को ही महत्त्व नहीं देता, अपितु उसके बोध को ज्यादा महत्त्व देता है। विभिन्न आगमों के योगपाद में विभिन्न प्रकार की धारायें वर्णित हैं। बोध प्राप्त करने के लिये योग सहायक है।

स्वरूप विस्मृति में अनन्त विकल्प युक्त विषयादि से बंधी हुई इन्द्रियाँ, अर्थात् बहिर्मुख वृत्तियां ही कारण हैं। इन्हीं को संसार कहा जाता है। इस बहिर्मुख संसार से अन्तर्मुख भाव लाने के लिये योग की आवश्यकता पड़ती है। युक्तता अथवा लक्ष्य तक पहुँचने का क्या साधन है? योग मार्ग लक्ष्य को प्राप्त करने का माध्यम है, अर्थात् अनन्त प्रकार के माध्यमों में योग भी एक माध्यम है।

साधारणतया आगम में दो मार्ग हैं। एक क्रममार्ग और दूसरा अक्रम। अक्रम-मार्ग में क्रमिक विकास का प्रश्न नहीं उठता। उसमें योगांग से युक्त होने का प्रश्न नहीं उठता। वह अकस्मात् होने वाला योग अथवा प्राप्ति कहलाती है। वह परमात्मा के अनुग्रह से होने वाली प्राप्ति अकस्मात् एवं किसी भी अपेक्षा अथवा हेतु को लक्ष्य करके नहीं होती। अतः इसको अक्रम-मार्ग कहा जाता है। मृगेन्द्र आगम में योग पाद में क्रम से साधना करने की प्रणाली को अष्टांगयोग मार्ग कहते हैं। यह पातञ्जल योग से विलक्षण है। परम शिव से युक्त होने के लिये अष्टाङ्ग मार्ग है। मृगेन्द्र आगम में अष्टाङ्ग योग[1] प्राणायाम से प्रारंभ होता है। (१) प्राणायाम, (२) प्रत्याहार, (३) धारणा, (४) ध्यान, (५) समाधि, (६) जप (७) ऊह, और (८) योग।

इसमें प्राणायाम शब्द से प्रारम्भिक क्रिया को बताया गया है। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य बहिर्मुख किस कारण से होता है? इसका उत्तर है प्राणापान के असंयम से। (उच्छ्वास एवं निश्वास) संकोच एवं विकास ही संसार है। प्राण का बहिःप्रसरण

---

१. प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानमीक्षणम्।
जपः समाधिरित्यङ्गा अङ्गी योगोऽष्टमः स्वयम्॥ मृगे० यो० २

एवं अन्तःप्रसरण जो हो रहा है, अपने मूल स्थान से च्युत होकर अपने को भूल कर पुनः अपना बोध करने के लिये बाहर ढूंढता है। जब बाहर अपने स्वरूप को नहीं पाता, तो पुनः भीतर की गति पाता है। भीतर एवं बाहर दोनों गति सापेक्ष रहने के कारण वहां भी स्वरूप-बोध संभव नहीं है। इस प्रकार अज्ञान के कारण निरन्तर स्वरूप को ढूढ़ने के अनुरूप यह गति चल रही है। अतः जीवन द्वन्द्वमय वन गया है। इस संघर्षमय अवस्था को किस प्रकार वन्द करके अन्तर्मुख होना चाहिये ? यह प्राण ही मन से युक्त होकर अनन्त प्रकार के विकल्प उठाता है। विकल्पमय प्राण के कारण ही अनन्त प्रकार के विकल्प उठते हैं। वस्तुतः विकल्प ही तो संसार है। इस विकल्प का शमन करने के लिये प्राणायाम ही प्रारंभिक उपाय है। देह में जो अहं-बोध है, उसे क्रमशः प्राण, मन इत्यादि के द्वारा पूर्ण वस्तु तक ले जाने के लिये प्रयत्न किया जाता है। प्रथमतः जो प्राण अन्तः एवं बहिः बह रहा है, इस वहन को विषय-गति कहा जाता है। इसमें जो प्रत्यावर्तन चल रहा है, यही जीव-भाव है। जा प्राण की विषमता को हटाने के लिये नाना प्रकार के उपाय हैं, प्राण एवं अपान को समान रूप से करने के लिए उनकी गति के प्रति द्रष्टाभाव रखकर समता की प्राप्ति करना ही प्राणायाम कहलाता है। यह आगम की ही देन है। तन्त्रोक्त योग-साधना में अभ्यासी को पूरकान्त कुम्भक, अथवा कुम्भकान्त पूरक, अथवा शुद्ध कुम्भक इत्यादि प्राण वायु को आश्रय करके किये जाने वाले अभ्यास किसी विशिष्ट व्यक्ति के निर्देशन में करने पड़ते हैं। इनमें यदि ठीक ठीक क्रिया का परिवहन न किया जाय तो रोगादि भी हो सकते हैं, अतः इनकी अपेक्षा सहज प्राणायाम का आश्रय लेना अधिक निरापद है। आगमों में पूर्ण प्राणयोग का रहस्य छिपा हुआ है। यदि श्वास के उदय को एक बिन्दु मान लें तो दूसरा विन्दु प्रश्वास है। अर्थात् जिस जगह से पुनः श्वास लौट कर आता है, वह प्रश्वास-बिन्दु है। इस प्रकार की सहज प्रक्रिया के साथ मन को जोड़ना चाहिये। प्रारम्भिक अवस्था में मन भाग जाता है। पुनः मन को लाकर जोड़ना चाहिये। इस में सफल हो जाने पर विकल्प नष्ट हो जाते हैं। इसी लिये सगर्भक कुम्भक पर ज्यादा जोर दिया गया है।

इन्द्रियों से जो सुख की अनुभूति हो रही है और इन्द्रियों में जो अभावात्मक सुख की अनुभूति हो रही है, इसका कारण है मन। यह सभी इन्द्रियों में जाकर उनको क्षुब्ध करता है। इस मन का आहरण करना ही प्रत्याहार है। यदि इन्द्रियों को बहिर्मुख रखकर मन को हटाया जाय तो शुद्ध व्यापक सत्ता का अनुभव होता है। इस प्रकार का अनुभव महासृष्टि स्वरूप प्रतिविम्ब का अनुभव है।

प्राणायाम के पश्चात् स्वभावतः प्रत्याहार की कला अवगत हो जाती है और इन्द्रियों के द्वारा विषय में जो मन वृत्तियुक्त होकर जा रहा है, उसको हटाने की कला प्राप्त हो जाती है। फलस्वरूप अब मन शुद्ध हो जाता

है। विषय-कलुषित मन को शुद्ध एवं निर्मल बना लेना प्रत्याहार का काम है। इसको यद्यपि मन कहते हैं, तथापि यह शुद्ध मनोभूमि है। यही आगे चल कर ध्यान की भूमि बन जाती है।

प्रत्याहार द्वारा शुद्ध चित्त धारणा के योग्य बन जाता है। अनन्तर धारणा में अवरुद्ध चित्त में किसी एक आकार को उस मन के साथ योजन करना चाहिये। धारणा में अनन्त प्रकार की धारणाओं का उल्लेख है। धारणा से ही चित्त-स्थैर्य प्राप्त होता है और हिमादि वर्णों का आविर्भाव होता है। इन वर्णों का भी रहस्य है। इस वर्णानुसंधान अथवा धारणा में नाना प्रकार का विज्ञान-रहस्य छिपा हुआ है। वस्तुतः जिसको हम अर्थ अथवा जगत् कहते हैं, वह मूल में इन्हीं वर्णों के उपादान से बनता है। सारा संसार वर्णमय है। यहाँ तक कि मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, विषय, सब कुछ इन वर्णों से बनते हैं। अतः सांख्य दर्शन में सत्त्व, रज और तम को श्वेत, रक्त और श्याम वर्णमय माना गया है। इन वर्णों की परस्पर मिलित अवस्था ही प्रकृति है। जो प्रकृति की धारणा करता है, वह प्रकृति को अधीन करके सृष्टि आदि भी कर सकता है। केवल वर्णाभिव्यक्ति ही पर्याप्त नहीं है। इन वर्णों में अनन्त प्रकार के वर्णों के अभिव्यक्त आकारों की धारणाओं का स्थिरीकरण भी आवश्यक है। किस प्रकार आकृतियों की अभिव्यक्ति होती है, यह अतिरहस्य की बात है, यही धारणा का रहस्य है।

प्राण और मन को शुद्ध करने के पश्चात् ध्यान किया जाता है। ध्यान एक प्रकार का होने पर भी उपास्य के भेद से ध्यान के आकार प्रत्येक साधक के अलग-अलग होते हैं। बार-बार एक आकार को चित्त में निक्षेप करना ही ध्यान कहलाता है।

जब साकार भूमि में एकतानता प्राप्त हो कर देवतात्मक बोध हो जाता है, तो उसको समाधि कहते हैं। आकार में एकतानता का भाव प्राप्त करके जब देवता का स्वरूप ही अपना स्वरूप है, इस बोध में अनुस्यूत रहता है, तो इस प्रकार की एकता-नता को समाधि कहते हैं।

इस प्रकार के किसी निर्दिष्ट ध्यानज आकार को सामने रख कर गुरु-प्रदत्त बीज-मन्त्र का जप करना चाहिये। जप में नाना प्रकार के जप हैं। ध्यान-गत मूर्ति को संमुख रख कर द्रष्टाभाव में रहकर जप करना चाहिये। वस्तुतः जो ध्यानज आकार है, यह मनोभूमि का ही आकार है। अर्थात् शुद्ध मन ही ध्यान के कारण देवताकार बन गया है। यह अद्वैत भूमि है। इस प्रकार देवता के आकार को सम्मुख रखकर गुरु-प्रदत्त मन्त्र के बल से देवता का सम्मुखीकरण करके उससे बोधात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही जप कहलाता है। मृगेन्द्रागम में देवता का सम्मुखीकरण करके उसे बोधात्मक भूमि में रखकर सम्बन्ध (Spiritual commu-

nication) स्थापित करना ही जप कहलाता है। यह सम्मुखीकरण ही आगे चलकर पूर्णतत्त्व, अर्थात् योग तक ले जाता है।

गुप्त आत्मस्वरूप में सम्मुखीकृत ध्यान से आकार एवं स्वात्मस्वरूप में रहकर इस जप भूमि में सत्तर्क किया जाता है। यह सत्तर्क अर्थात् बोधात्मक जिज्ञासा ही अन्तरंग जिज्ञासा है। यही शुद्ध विकल्प की भूमि है। इस ऊह का बड़ा महत्त्व है। यही अनन्त प्रकार के शास्त्र एवं विज्ञान की उपदेश भूमि है। अनन्त आगम एवं वेदोत्पत्ति की भूमि यही है। साधक अपने आधारानुसार इस भूमि में बोध का ग्रहण कर सकता है। यहाँ पर गुरुकृपा अर्थात् दीक्षा के समय प्रदत्त कृपा का अनुभव होने लगता है। परम वस्तु के योग में यह सब सहायक हैं। अतः इस ऊह अवस्था में साधक को कौन सा पथ ग्रहण करना चाहिये, किस प्रकार से आगे के पथ में अग्रसर होना चाहिये, यह सब इसी भूमि में स्वाभाविकतया आ जाता है। अतः इस अवस्था को ऊह कहा जाता है। इस सत्तर्क अथवा अभिवीक्षण के फलस्वरूप योगी का बोध विश्वव्यापक हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का तेज विश्व को व्याप्त किये है, उसी प्रकार योगी की शक्ति व्यापक है। इस प्रकार के सत्तर्क से व्यापकभाव जग जाता है।

ऊह अथवा सत्तर्क का आश्रय करके शिवस्वरूप को प्राप्त करने के लिए सब पदार्थों का त्याग करके शिवत्व का अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार के अभ्यास से स्वाभाविकतया आकार का उन्मीलन होता है। इस स्वरूप का साक्षात्कार ही योग अवस्था कहलाती है। इस योग तक आते आते सत्तर्क के कारण चित्त का संस्कार नहीं रहता। अत एव निस्तरंगित प्रशान्त समुद्र की तरह स्वात्मस्वरूप में ही स्वस्वरूप का उन्मीलन होता है। योग अवस्था में स्वात्मस्वरूप को प्राप्त किया जाता है। यही निरावरण नित्यज्ञानक्रियायुक्त अवस्था की पूर्णता है। ज्ञान का तात्पर्य है प्रकाशस्वरूप शिव, क्रिया का तात्पर्य है शक्ति। योग अवस्था में ज्ञान-क्रिया की स्वात्मावस्था की प्राप्ति होती है। ज्ञानक्रियास्वरूप यही शिवत्व है। इस शिवत्व की प्राप्ति ही योग कहलाती है। ऊह के पश्चात् क्रमशः योग-भूमि में प्रवेश करना पड़ता है। इसमें प्रथमतः स्वात्मस्वरूप में आत्मा के आकार का उन्मीलन होता है। पश्चात् वह आकार भी आत्मस्वरूप बन जाता है। ज्ञान एवं क्रिया का योग होना ही पूर्णत्व अथवा योग कहा जाता है। इस पूर्णत्व में ज्ञान एवं क्रिया का योग हो जाता है। यह ज्ञान एवं क्रिया का जो योग है, यही यथार्थ आत्मस्वरूप के साथ योग कहा जाता है। क्रिया एवं ज्ञान ही शिव अथवा पूर्ण स्वरूप है। शुष्क ज्ञान भी अपूर्ण है। केवल क्रिया बिना आधार नहीं रह सकता, अत एव ज्ञान एवं क्रिया से पूर्णता का निर्वचन हो सकता है। अत एव इस आगम में ज्ञान एवं क्रिया युक्त अवस्था ही पूर्णत्व की अवस्था कही जाती है। अत एव ज्ञानक्रिया सम्पन्न योगी को विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण अवस्था प्राप्त पूर्ण योगी कहा जाता है। यही पूर्ण योग है।

क्रिया ही विश्वात्मक स्वरूप है। ज्ञान ही विश्वोत्तीर्ण अवस्था है। यही ज्ञान-क्रिया का रहस्य है। इस ज्ञान क्रिया को ही योग कहा जाता है। यही अखण्ड स्वरूप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस आगम में प्रतिपादित अष्टांग योग पातंजल योग से कुछ भिन्न प्रकार का है। इसमें सब से महत्त्वपूर्ण भिन्नता है चित्त को प्रत्याहार क्रम से निर्मल कर उस चित्त की धारणा द्वारा इष्ट के साथ एकतानता। एकतानता के फलस्वरूप सम्मुखीभाव प्राप्त हो जाता है। यह सम्मुखीभाव ही आगे चल कर सत्तर्क में बदल जाता है। पश्चात् अपने स्वात्मस्वरूप का पूर्ण बोध होता है। यह स्वात्मस्वरूप ही ज्ञान एवं क्रियायुक्त शिवावस्था है। इनमें क्रमशः चलना चाहिये, यह बात नहीं है। किसी भी एक अवस्था का उदय होने पर योग तक पहुँच सकते हैं। यही शिवत्व प्राप्ति है। इनमें सम्मुखीकरण का उदय हुआ तो उसमें सभी अंग सम्पूर्णरूपेण उदित हो जाते हैं। इसमें एक के प्रति दूसरा सहायक है। एवं सब मिलकर पूर्ण योग के पूरक हैं॥

सन्त ज्ञानेश्वर का तत्त्वज्ञान और शैवदर्शन

श्री एन. एच. चन्द्रशेखर स्वामी, कनिष्ठानुसंधाता योगतन्त्रविभाग, वा. सं. वि. वि., वाराणसी।

महाराष्ट्र के सन्त साहित्य में सन्त ज्ञानेश्वर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आज भी ज्ञानेश्वर व तुकाराम महाराज की गुणगाथा गाई जाती है। ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने ज्येष्ठ बन्धु निवृत्तिनाथ से कृपा पाई थी। वे अपने सब ग्रन्थों में इनकी कृपा का वर्णन करते हैं। गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसके फलस्वरूप इन पर भी नाथपन्थ का प्रभाव रहा। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ और निवृत्तिनाथ इस परम्परा से इनको ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसी समय महाराष्ट्र में दूसरी एक नाथ-परम्परा थी—आदिनाथ, हरिनाथ, रघुनाथ, मुकुन्दराज। इस परम्परा के मुकुन्दराज ने विवेकसिन्धु व परमामृत दो ग्रन्थ लिखे हैं। हरिनाथ को साक्षात् श्री शंकर भगवान् का अनुग्रह हुआ था। प्रस्तुत लेख का प्रयोजन इस नाथ-परम्परा के तत्त्व-ज्ञान का आलोचन करना है।

ज्ञानेश्वर का प्रभाव अपने जीवनकाल में वैष्णव सम्प्रदाय के पंढरपुर निवासी सन्त नामदेव पर पड़ा। बारकरी सम्प्रदाय सन्त ज्ञानेश्वर को अपनी गुरु-परम्परा में उच्च स्थान देता है। परवर्ती महाराष्ट्र सन्तों पर भी ज्ञानेश्वर का गहरा प्रभाव है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी इक्कीस साल की अल्पायु में ही शिवशक्तिसामरस्य प्राप्त कर लीलामय जीवन में रहते हुये कई अमर [1]ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनका जन्म शक ११९७ में श्रावण वदि अष्टमी के दिन हुआ। शक १२१८ कार्तिक वदि त्रयोदशी के दिन रुद्रायणी नदी के किनारे इन्होंने समाधि ली। ज्ञानेश्वर ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया था, इसमें शंका नहीं है। इनके ग्रन्थों पर परम्परागत

---

१. ग्रन्थों के नाम—(१) भावार्थदीपिका, (२) अमृतानुभव, (३) चांगदेव पासट्ठि, (४) योगवाशिष्ठ, (५) आत्मानुभव, (६) उत्तरपत्रिका, (७) पञ्चमुद्रा, (८) अन्वयव्यतिरेक, (९) द्वैतनिरूपण, (१०) गीतारत्नम्, (११) उत्तरपंचविंशी, (१२) योगिनी, (१३) शुकाष्टकम्, (१४) विष्णुसहस्रम्, (१५) गीतासार, (१६) उत्तरपंचविंशी, (१७) उत्तरगीता, (१८) महावाक्य, (१९) गायत्री-रहस्य, (२०) कल्याणपत्रिका, (२१) अभंग, (२२) स्वार्थपत्र, (२३) गुह्य-सप्तक, (२४) मुद्राप्रकाश (श्रीज्ञानेश्वराचें तत्त्वज्ञान, डा० शं० वा० पेंडसे, द्रष्टव्य—पृ. २९५)।

बारकरि सम्प्रदाय के लोग केवल भावार्थदीपिका (भगवद्गीता की टीका), अमृतानुभव, चांगदेव पासट्ठि और अभंग को ही ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ मानते हैं।

नाथपन्थ के तत्त्वज्ञान और शैवागमों का प्रभाव पड़ा था। इन पर उपनिषद्, गीता, योगवाशिष्ठ, गौडपादकारिका इत्यादि का भी प्रभाव रहा। ज्ञानेश्वर केवल ग्रन्थों का अध्ययन करके समालोचना करने वाले दार्शनिक व्यक्ति नहीं थे, किन्तु बाल्य-काल में ही गुरुकृपा प्राप्त कर अनुभूति के मार्ग में चल कर परावाग् की अनुभूतियों के प्रभाव से अपने ग्रन्थों को लिखा है। इनके तत्त्वज्ञान को शंकर, रामानुज आदि आचार्यों के सिद्धान्तों के साथ तुलना करके साम्य-वैषम्य से ज्ञानेश्वर की मौलिकता को समझना सम्भव नहीं है।

इनके अमृतानुभव ग्रन्थ से इनके जीवन-दर्शन एवं अनुभूति का विवरण मिलता है। यह शिव-शक्ति के सामरस्य के ऊपर गुरुतत्त्व को मानते थे और इस गुरुतत्त्व को निवृत्तिनाथ के नाम से सम्बोधित करते हैं। इनकी अनुभूतियों की उच्चकोटि के शैवागमों के दर्शन व योग के साथ तुलना की जा सकती है।

इस लेख का मूल उद्देश्य ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ अमृतानुभव के आधार पर उनके स्वानुभूत दार्शनिक तत्त्वों की शैवागमों के साथ तुलना करना है। योगी की स्वानुभूति पर एक विलक्षण दर्शन की भित्ति खड़ी है। ज्ञानेश्वर ने अपने अनुभव को और शैवागमों को ही नींव मानकर अपने जीवन दर्शन को उपस्थित किया है। शैवा-गमों को उन्होंने अवश्य प्रमाण मान लिया है, किन्तु वह केवल भाषानुवाद नहीं है। अपने वैशिष्ट्य को उन्होंने स्वात्मानुभूति से अभिव्यक्त किया है। इस प्रसंग में कुछ बातें स्पष्टतया समझनी चाहिये। प्रत्येक योगी या साधक जब गुरुकृपा प्राप्त कर लेता है, और जब उसकी अनुभूति का द्वार खुल जाता है, तब वह अपने परम्परा के तत्त्व के साथ अपने आधारानुकूल वैशिष्ट्यके अनुसार कुछ नवीनता अवश्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनुभूति में मौलिकता व माधुर्य अवश्य रहता है। सन्त ज्ञानेश्वर की रचना में परम्परागत शैवागमों के तत्त्वों की झलक दिखाई पड़ती है, साथ ही साथ मौलिकता भी दृष्टिगोचर होती है।

अद्वैत शब्द का भारतीय दर्शन में विभिन्न विचारकों ने अपने ही पारिभा-षिक अर्थ में उपयोग किया है। अत एव अद्वैत कहते ही किसी एक निर्दिष्ट प्रकार का बोध होना चाहिये यह बात नहीं है। अपने मन में निर्दिष्ट प्रकार के अद्वैत संस्कार को रखकर किसी शास्त्र की वासना से दूषित बोध से किसी सन्त के अद्वैत को पहचान नहीं सकते, क्योंकि सन्त सब कुछ भूल कर अपनी वाणी के द्वारा जिस तत्त्वज्ञान को कहता है, उसको उसी प्रणाली से समझने का प्रयास करना चाहिये। अनुभूति-प्रवण योगी का अनुभव किसी सिद्धान्त का अनुसरण करने की परवाह नहीं करता, क्योंकि उसके अन्तःस्थित महाशक्तिस्वरूप गुरु के आदेशानुसार वह अन्तःस्थित शक्ति की प्रेरणा का अनुसरण कर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। अत एव ज्ञानेश्वर ने किसी आचार्य के तत्त्वज्ञान का अनुसरण किया है, यह भ्रममात्र है।

ज्ञानेश्वर अखण्ड महासत्ता को संवित् स्वरूप मानते हैं। वह समरस अवस्था है। शिवशक्ति एकाकार रूप से है। इसमें जो विश्व-वैचित्र्य चल रहा है, वह शक्ति का ही खेल है अथवा शिव का ही खेल है, कहना कठिन है।[१]

शिव और शक्ति का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि शक्ति के बिना शिव का शिवत्व भी नहीं टिक सकता। शिव को बोधस्वरूप भी शक्ति से ही प्राप्त होता है। उदाहरण स्वरूप एक स्त्री सोये हुए पुरुष को बिना उठाये पकवान् बना लेने के बाद उसे खिलाने के लिये जगाती है, वह पुरुष को जिस प्रकार आश्चर्य चकित कर देती है उसी प्रकार शक्ति शिव को आश्चर्य चकित कर देती है। शिव शक्ति का आश्रय लेकर स्वयं सर्व भोक्ता बन जाता है। एक दृष्टि से शिव और शक्ति एक ही है। जिस प्रकार वायु के साथ गति, सुवर्ण के साथ उसकी कान्ति है, उसी प्रकार दोनों अभिन्न रूप से भास्य और भासक बनकर जगत् रूप से खेल रहे हैं। इस प्रसङ्ग में ज्ञानेश्वर कहते हैं—[२]"अपने शरीर के अहं को हटाकर शिव-शक्ति के साथ एक हो गया हूँ।" जिस प्रकार लवण समुद्र में गिर जाने पर समुद्र स्वरूप बन जाता है, उसी प्रकार देहात्मबोधयुक्त अहं को छोड़कर पूर्ण शिवशक्ति-स्वरूप बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि शिवशक्ति-समावेश युक्त स्वरूप ही पूर्णता है। शिव[३] शक्ति के बिना जगत् के अनेक वैचित्र्य का भान नहीं कर सकता है, क्योंकि बिना शक्ति जगत् रूपी दृश्य नहीं हो सकता है। अर्थात् दृश्य रूप शक्ति के बिना द्रष्टारूप शिव कुछ भी नहीं कर सकता है। एक अखण्ड अद्वैत स्वरूप, जिसको शिवशक्तिस्वरूप कहा जाता है, उसमें स्वयं अपनी लीला से भोक्ता और भोग्य बन गया है। दोनों समरस हैं, अर्थात् एकरस हैं। इसको समझाने के लिये पति-पत्नी का दृष्टान्त दिया गया है। सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व युक्त शिव अपनी शक्ति के साथ एकरस है। दो दण्डों के टकराने से एक आवाज होती है, अथवा दो फूलों से एक सुगन्ध, दो दीप होने पर भी एक प्रकाश, दो ओंठ होने पर भी एक ही उच्चारण, दो आँखे होने पर भी एक ही दृष्टि है, उसी प्रकार शिवशक्ति दोनों के योग से एक जगत् है।" (अमृतानुभव, प्र० १ श्लोक १८, १९)। इससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों मिलकर जगत् की सृष्टि करते हैं। दोनों का अस्तित्व परस्पर निर्भर करता है। दूसरी बात यह है कि जगत् का कर्तृत्व शिव में है,

---

१. सार्धं केन च कस्यार्धं शिवयोः समरूपिणोः।
ज्ञातुं न शक्यते लग्नमिति द्वैतच्छलान्मुहुः॥ (अमृतानुभव, १-२)

२. अमृतानुभव, प्र० १—६२।

३. यही सिद्धान्त शङ्कराचार्य कृत सौन्दर्यलहरी के प्रथम श्लोक में देखने को मिलता है—"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितु-मपि" इत्यादि।

यदि शक्ति अपने अनंत वैचित्र्य को स्फुरण नहीं कर सकती, तो शिव में कर्तृत्व कहां से आयेगा। शिव ही शक्ति रूप से भासित हो रहा है। यदि शक्ति ही न रहे तो सर्वकर्तृत्व[1] शिव में किस प्रकार आयेगा। इससे स्पष्ट है कि दोनों के समावेश को अलग करके कहना कठिन है। जिस प्रकार सूर्य और प्रभा दोनों एक ही है, उसी प्रकार शिव और शक्ति[2] एक ही है। ज्ञानेश्वर ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि में शिव शक्ति से युक्त अथ च द्वैत से परे परा संवित् स्वरूप है—

[3]मूलायाग्राय मध्याय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमूलमध्याय नमः पूर्णाय शम्भवे॥

मूलस्वरूप प्रमाण-प्रमेय को प्रकाशित करके भी उससे अपने स्वरूप को उसी तरह अलग रखता है, जिस प्रकार चन्द्र अपनी ज्योत्स्ना को प्रकाशित करते हुए भी अपने स्वरूप को अलग रखता है। चैतन्य की दृष्टि से बन्ध और मोक्ष सापेक्ष हैं। आत्मस्वरूप इनसे अतीत है। चारों प्रकार की वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, आविद्यक है, क्योंकि चित् शक्ति ही संकोच लाभ कर चार प्रकार की वाणी के रूप में बहिः स्फुरित होती है। वस्तुतः पूर्ण चैतन्य स्वरूप को हम इससे पा नहीं सकते। चैतन्य सामान्य एवं विशेष स्वरूप प्राप्त करके भी उससे लिप्त नहीं होता है। शुद्ध चैतन्य शक्ति ही अनुभव, अनुभाव्य, अनुभावक होने पर भी उससे अलग है। अन्तिम अनुभव के स्वरूप को परा वाणी भी अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

इस प्रकार परम वस्तु का स्वरूप जीव को विस्मृत हो गया है। इस स्वरूप-विस्मृति को दूर करने की शक्ति शब्द में है। सद्गुरु के उपदेश के श्रवण से इस स्मृति का बोध होता है। सच्चिदानन्दस्वरूप स्मरण व अस्मरण दोनों के परे है, वस्तुतः आत्मा स्वसंवेद्य है।

स्वरूपगोपन के कारण ज्ञान ही अज्ञान स्वरूप हो गया है। मूल में अविद्या भावरूपी कोई पदार्थ नहीं है। इसको समझाने के लिये शब्द की आवश्यकता नहीं है। आत्मा अपने ज्ञानरूप से ज्ञान नहीं कर लेता। आत्मा स्वतःसिद्ध है। उसको शब्द प्रकाशित नहीं कर सकता।

---

१. इस प्रसंग में नित्याषोडशिकार्णव के चतुर्थ पटल के प्रारंभ के ६-७ श्लोक तुलनीय हैं।

२. अभिनवगुप्त ने बोधपञ्चदशिका में यही अर्थ प्रतिपादित किया है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद्व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥ (श्लो. ३)

३. यह श्लोक उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली में (२।९) उपलब्ध होता है। मायिदेव ने अपने अनुभवसूत्र में भी इसको उद्धृत किया है।

[१]ज्ञान अज्ञान दो जुड़वे के समान हैं, क्योंकि ज्ञान अपने को छुपाकर अज्ञान को व्यक्त करता है। अत एव इससे स्पष्ट है कि ज्ञान और अज्ञान परस्पर विरुद्ध नहीं है। शैवागम की परिभाषा में संकुचित बोध ही अज्ञान कहलाता है। यहाँ ज्ञान अज्ञान का विरोधी नहीं है। इस प्रसंग में सन्त ज्ञानेश्वर महाराज अज्ञान खंडन प्रकरण में विशेष विवरण देते हैं। जिस प्रकार प्रमाण प्रमेय को सिद्ध करता है, किन्तु अपनी सिद्धि नहीं कर सकता, उसी प्रकार अज्ञान अपने को समझ नहीं सकता, क्योंकि वह जड़ है। यदि अज्ञान ज्ञान से प्रतीत होता है, तो उसे अज्ञान किस प्रकार कहा जायगा। यदि अज्ञान ज्ञानरूप आत्मा का आवरण नहीं करता, तो उसे अज्ञान नहीं कहा जा सकता। आत्मा में सब प्रकार के अज्ञान को रखते हुये आत्मस्वरूप ज्ञान यदि रहता है, तो उसको अज्ञान कहना व्यर्थ है। अत एव आत्मा में ही ज्ञान व अज्ञान दोनों भासित होते है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अज्ञान का विरोधी नही है। कार्य और कारण अभिन्न हैं। अत एव अज्ञान एवं उसके कार्य सब अज्ञान रूप हैं। अज्ञान यदि अलग रहता तो आत्मा से अतिरिक्त दिखाई देता। आत्मज्ञानस्वरूप चैतन्य है। स्वयं जगदाकार होकर विस्तृत होकर दिखाई देता है और जगत् को देखनेवाला द्रष्टा भी वही है।

ज्ञानरूप आत्मा के अतिरिक्त एक अज्ञान है, इस प्रकार विचार करनेवाले को अज्ञानवादी कहा जाता है। इसके उत्तर में ज्ञानेश्वर कहते है कि यह दृश्य नामरूपात्मक जगत् अज्ञान का कार्य नहीं हैं, अपितु अखंड ज्ञान प्रकाश का ही विकास है।

अनन्त वैचित्र्य रूपी जगदाभास चैतन्य स्वरूप स्वातन्त्र्य का खेल है। यह सृष्टि चिद्विलास है, अत एव इसको अज्ञान कहना ठीक नहीं है। चैतन्य ही ज्ञान एवं ज्ञाता रूप से भासित होता है। अनन्त दृश्य एक ही चैतन्य में स्फुरित हो रहे हैं। चैतन्यातिरिक्त कुछ भी नहीं है। अनंत तरंगे एक ही जलाशय में होती हैं। चैतन्य की शक्ति नित्य नवनवोन्मेषशालिनी है। निरन्तर भिन्न में अभिन्नोदय होता रहता है। सर्वज्ञता और स्वातन्त्र्य चैतन्य में है। इस चिदात्मा से विकसित जगत् अनंत वैचित्र्य युक्त होने पर भी एक ही है। उदाहरण स्वरूप कमल में अनेक दल होने पर भी कमल एक ही कहलाता है, उसी प्रकार जगत् अनंत वैचित्र्यमय होने पर भी एक ही चैतन्य स्वरूप है। समस्त विश्ववैचित्र्य और जगत् जो दिखाई दे रहा है, यह चैतन्य में ही दिखाई दे रहा है। चैतन्य यदि इसे समेटना चाहेगा तो कूर्मभंगीन्याय से अपने में समेट लेगा[२]। दृश्य और द्रष्टा अनादि है और

---

१. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लो० ६

२. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लो० १९७।

अखंड चैतन्य में विश्वरूप से भासित होते हैं। [1]सम्पूर्ण जगत् चिद्विलास है, अपने में अपने को देख रहा है। अपने में नित्य स्फुरद्रूप से रहना ही चैतन्य का स्वभाव है।[2] एक ही चैतन्य द्रष्टा-दृश्य बनकर परस्पर अनुप्रवेश करते हैं। ज्ञानेश्वर चैतन्य को अनुभूति से पकड़ने के लिये कहते हैं। द्रष्टा और दृश्य के संधिस्थान में चैतन्य है, अर्थात् प्रत्येक संधिस्थान में चैतन्य खेल रहा है। सामान्य जीव अवस्था में भी अर्थात् संकुचित जीवबोध में भी निरन्तर शिवत्व का बोध हो रहा है। इसको अनुभूति में लाने के लिये, अर्थात् शिवस्वरूप-अनुभव द्वारा पहचानने के लिये, ज्ञानेश्वर महाराज ने कई प्रक्रियाओं का वर्णन दिया है। सामान्य और विशेष के संधिस्थान में, श्वास और प्रश्वास के संधिस्थान में, हमारी दृष्टि जब एक पदार्थ को देखकर दूसरे पदार्थ को देखने जाती है, तो इसी बीच में यदि लक्ष्य करें तो चैतन्य का बोध होता है। यह शुद्ध चैतन्य ही आत्मस्वरूप है। इसको शैवागमों में प्रथमावभास कहा जाता है। इस प्रसंग में यह कहना उचित होगा कि इस प्रकार का विवरण स्पन्दकारिका, विज्ञानभैरव इत्यादि ग्रन्थों में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता कि ज्ञानेश्वर महाराज शैवागमों के तत्त्व, ज्ञान और यौगिक प्रक्रिया से परिचित थे।

[3]शिव से लेकर पृथ्वी तक सब तत्त्व उसी चैतन्य शक्ति की रश्मि है। अत एव जगत् नित्य स्फुरद्रूप आत्मा की ही स्थिति है। [4]सापेक्ष ज्ञान और अज्ञान की पृष्ठभूमि में चिदात्मक आत्मस्वरूप है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप में ज्ञान और अज्ञान की कल्पना नहीं हो सकती। चित्स्वरूप सूर्य के सामने ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं है। अष्टांग योग से प्राप्त होनेवाली जीवन्मुक्ति अवस्था ज्ञानेश्वर के ज्ञानोत्तर भक्तियोग के सामने उसी तरह है, जैसे कि सूर्य के सामने चन्द्रमा का प्रकाश। क्योंकि ज्ञानोत्तर भक्तियोग सहज योग है। इसमें [5]व्युत्थित अवस्था का प्रश्न नहीं है। अखण्ड, पूर्ण, अद्वैत अवस्था का अनुभव ही जीवन्मुक्ति कहलाती है। इस मायिक देह में रहते हुए परम तत्त्व का अनुभव प्राप्त करना ही जीवन्मुक्ति दशा कहलाती है। जीवन्मुक्ति अवस्था एक होने पर भी जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त ज्ञानी के बोध में तारतम्य से विलक्षणता पाई जाती है। शैवागमों के कथनानुसार पूर्णाहंबोध को प्राप्तकर अनंत वैचित्र्य को अपना ही अद्वैत स्वरूप समझ लेना और नानात्व को एक में देखना, नानात्व की शक्ति को अपना ही स्वरूप, शक्तिस्वरूप समझकर सम्पूर्ण विश्व को शिव दृष्टि से देखना जीवन्मुक्ति कहलाती है। अत एव इस दशा में समाधि अथवा व्युत्थान का प्रश्न नहीं

---

१. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १६५।

२. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १७०।

३. अमृतानुभव, प्र० ४, श्लोक २७८।

४. अमृतानुभव, प्र० ७, श्लोक १९।

५. अमृतानुभव, प्र. ९, श्लोक २६।

उठता। इस प्रकार की पूर्णाद्वैत अवस्था में पुनः अपने स्वात्मस्वरूप वैशिष्ट्य को रख कर अद्वैत अवस्था में भी "मैं और तुम" करके खेलने वाली लीला ही ज्ञानोत्तर भक्तिलीला कहलाती है। इस प्रकार की लीला में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों हैं। ज्ञानोत्तर भक्ति सामरस्य अवस्था में उदित होती है। ज्ञानेश्वर स्वयं एकत्व में, अर्थात् अद्वैत अवस्था में भक्ति किस प्रकार हो सकती है? इस प्रकार शंका उठाकर स्वयं उसका समाधान देते हैं। अनन्तवैचित्र्य रूप से होने पर भी अद्वैत की हानि नहीं होती।[1] उदाहरण स्वरूप जैसे पत्थर की चट्टान में उत्कीर्ण की गई देवी देवताओं की मूर्तियाँ भाँति भाँति की होने पर एक ही अखंड चट्टान में दिखाई देती हैं, उसी प्रकार अखंड आत्मस्वरूप में सब कुछ अद्वैत रूप में ही भासित होता है। ज्ञानी भक्त सदैव अद्वैत बोध में अपने को शिवस्वरूप समझता है। अहं एव इदं दोनों एक होकर केवल सामरस्य की अवस्था का अनुभव करता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर परासंवित् को अखंड स्वरूप मानते हैं और यही शैवागमों का भी कथन है। सामरस्य अवस्था के ऊपर एक परिपूर्ण गुरु-तत्त्व है। अज्ञान अवस्था में रहने वाली आत्मा को आत्मस्वरूप तक ले जाना वाला शिव ही गुरु है। गुरु चिद्विलास युक्त है और उसकी एकाकार शक्ति है। चित् शक्ति शिव में शान्त अवस्था में है और उदित अवस्था में भी है। स्वयं ज्ञानाज्ञान-रूप में संकुचित स्वरूप प्राप्त करके भासित होती है। मूल में रहने वाली चिच्छक्ति स्वात्मस्वरूप में लीला के लिये दो बन जाती है और यह दो बनकर प्रथमतः अपने में शून्य बना लेती है। इसी शून्य में जगत् अनंत वैचित्र्य युक्त होकर अनादि सृष्टि-धारा रूप में भासित होती है। स्वरूप गोपन के कारण शक्ति ज्ञानाज्ञानस्वरूप, प्रमाण-प्रमेयस्वरूप प्राप्त करके खेल रही है। इस शक्ति का अधिष्ठाता परमगुरुस्वरूप शिव है। मूलतः अखंड द्रष्टा वही है। वह खंड भाव प्राप्त करके स्वरूप गोपन के कारण अनन्त वैचित्र्य युक्त होकर लीला स्वरूप में खेलता है।

अखंड शिव स्वरूप केवल शिवत्व स्वरूप की प्राप्ति से ही नहीं होता है और न शक्ति स्वरूप की प्राप्ति से, किन्तु स्वरूप युक्त हो जाना आवश्यक है। जीव अपने स्वरूप को समझ कर गुरुकृपा प्राप्त करके सामरस्य अवस्था को प्राप्त करना है। ज्ञानेश्वर महाराज का कथन है कि केवल शुष्क ज्ञान से कुछ नहीं होता। इस स्वरूप-गोपन के हटाने की शक्ति अर्थात् इस अज्ञान के हटाने की शक्ति साक्षात् शिवस्वरूप गुरु के अतिरिक्त किसी में नहीं है। इसी को शैवागम की भाषा में 'पौरुषेय ज्ञान' कहा जाता है। स्वरूप-गोपन को पौरुषेय अज्ञान कहा जाता है। यह साधना द्वारा नहीं हटता, किन्तु गुरु-कृपा से ही हटता है। इस प्रकार की गुरु-कृपा ही शक्तिपात

---

१. अमृतानुभव, श्लोक २१।

कहलाती है। ज्ञानेश्वर महाराज इसी का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि बिना गुरुतत्त्व के परमतत्त्व का लाभ नहीं हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानेश्वर महाराज शैवागम धारा के सिद्धान्तों को मानते हैं। ज्ञानेश्वर जिस अद्वैत की ओर इंगित करते हैं, वह शिवाद्वैत ही है। सम्पूर्ण जगत् चिद्विलास है। प्रकाश में जड़ जगत् भासित हो रहा है इस विचार का वे खंडन करते हैं। अज्ञान अथवा इसका कार्य जगत् में नहीं है, चित् ही अनन्तवैचित्र्य को लेकर भासित हो रही है। इससे यह प्रतीत होता है कि एक ही चिच्छक्ति है और उसमें नाना नामरूपस्वरूप वैचित्र्य को लेकर जगत् अभिन्नरूप में भासित होता है। केवल सन्मात्र बोध अखंड बोध नहीं है। सत् को ही चित् स्वरूप में समझना भी आवश्यक है।

अब अमृतानुभव के कुछ मूल श्लोकों को लेकर हम विचार करते हैं। शिव-शक्तिसमावेश शब्द शैवागम का ही है। माया और ब्रह्म का समावेश नहीं होता है। शाक्तसमावेश, शांभवसमावेश इत्यादि समावेशों का शैवागम के ग्रन्थों में विशेष विस्तृत रूप से वर्णन मिलता है। स्वयं ग्रंथकार अज्ञान का खंडन करते समय [1]शिवसूत्र को उद्धृत करते हैं। शिवादि पृथिव्यन्त तत्त्व ग्राम को ही जगत् कहा है। जगत् की संहार अवस्था का वर्णन करते समय कूर्मभंगिन्याय दृष्टान्त रूप में देते हैं। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी का विवरण देते हुये, परम वस्तु उसके ऊपर है, ऐसा कहते हुये वे वाक्चतुष्टय का खंडन करते हैं। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानेश्वर महाराज का जीवनदर्शन शैवागमों से अवश्य प्रभावित था और वे अनुभूति-पूर्ण सिद्ध शिवयोगी थे॥

---

१. अमृतानुभव, प्र. ३. श्लोक १६. आणि ज्ञानबंधु ऐसे। शिवसूत्राचिने भिसें॥

अलंकारसंग्रहकार अमृतानन्द योगी की योगिनीहृदय-दीपिकाकार से अभिन्नता

श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, व्याख्याता—योगतन्त्र, वा. सं. वि. वि. वाराणसी।

अलंकारसंग्रह, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अलंकार शास्त्र का एक ग्रन्थ है। पूरा ग्रन्थ ११ परिच्छेदों में विभक्त है। इसका पहला संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् १८८७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, ऐसा एम्० [1]कृष्णमाचार्य के इतिहास से, तथा म० म० पी० वी०[2] काणे के ग्रन्थ से मालूम होता है। कलकत्ता संस्करण में प्रारंभ के केवल पाँच परिच्छेद ही प्रकाशित हुए थे। बाद में यह पूरा ग्रन्थ सन् १९४७ में अड्यार पुस्तकालय, मद्रास से तथा सन् १९५० में तिरुपति[3] के वेंकटेश्वर शोध संस्थान से प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के सम्बन्ध में कुछ न कह, हमको यहाँ पर केवल ग्रन्थकार के विषय में ही विचार करना है।

तन्त्रशास्त्र में अमृतानन्द योगी योगिनीहृदय की दीपिका नाम की टीका के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये कामकलाविलासकार पुण्यानन्द के शिष्य थे। अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण के संपादक पण्डित बालकृष्ण मूर्ति के मत से अलंकारसंग्रह के कर्ता से ये भिन्न हैं। इस संस्करण की भूमिका (पृ० ६) में बताया गया है कि इसी नाम के दो अन्य लेखक हैं, एक योगिनीहृदयदीपिकाकार और दूसरे [4]षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार। इन दोनों में से किसी ने अलंकारसंग्रह को उद्धृत नहीं किया है और न मन्व भूप को ही, जो कि अलंकारसंग्रहकार अमृतानन्द के आश्रयदाता थे। इसलिये ये दोनों अलंकारसंग्रहकार से भिन्न ही है।

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७ फुट नोट।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, सन् १९६१, पृ० ३९९

३. मद्रास और तिरुपति जैसे अति समीप के स्थानों में भी एक ही ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये एक ही समय में अलग अलग प्रयास हो रहे थे। इस प्रकार के दोहरे प्रयासों को रोकने के लिये एक केन्द्रीय संघटन की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत सरकार, भारतीय विश्वविद्यालय और अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् जैसे संघटनों को इस ओर अब तो अविलम्ब ध्यान देना चाहिये।

४. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह के सभी श्लोक सौभाग्यसुधोदय के प्रथम प्रपंच से लिये गये हैं। नित्याषोडशिकार्णव के वाराणसी संस्करण के परिशिष्ट में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। वहाँ पर ये श्लोक आनुपूर्वी से उपलब्ध हैं। योगिनीहृदयदीपिका में स्वयं ग्रन्थकार ने इसको अपनी ही कृति माना है। इस विषय में हम योगिनीहृदयदीपिका के द्वितीय संस्करण के अनुप्रास्ताविक में तथा नित्याषोडशिकार्णव (वाराणसी संस्करण) की भूमिका में लिख चुके हैं। इस प्रकार षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार और योगिनीहृदयदीपिका-कार एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

इसके विपरीत अड्यार संस्करण के संपादक श्री वे० कृष्णमाचार्य के मत से (संस्कृत भूमिका, पृ० १५–१६) योगिनीहृदयदीपिकाकार और अलंकारसंग्रहकार अभिन्न व्यक्ति हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि परस्पर एक दूसरे के वचनों को उद्धृत नहीं किया गया है, तो भी इनकी अभिन्नता के प्रतिपादक कुछ प्रमाण मिलते हैं। ये दोनों ही शैव और शाक्त हैं। अलंकारसंग्रह के प्रारंभ में—

जगद्वैचित्र्यजननजागरूकपदद्वयम् ।
अवियोगरसाभिज्ञमाद्यं मिथुनमाश्रये ।।

यह मंगल श्लोक है। इसमें अर्धनारीश्वर को नमस्कार किया गया है। अलंकार-संग्रह के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में—"अमृतानन्दयोगिप्रवरविरचितेऽलङ्कारसंग्रहे" इस प्रकार का पुष्पिका-वाक्य दिया गया है। योगिनीहृदयदीपिका में—"अमृता-नन्दयोगिप्रवरविरचितायां योगिनीहृदयदीपिकायाम्" यह पुष्पिका-वाक्य मिलता है। इन वाक्यों से इन दोनों ग्रन्थों का कर्ता एक ही व्यक्ति है, यह स्पष्ट होता है।

हमारी दृष्टि में यही मत उचित है। उक्त मंगल श्लोक के "आद्यं मिथुनम्" ये दो शब्द सारी गुत्थी को सुलझा देते हैं। त्रिपुरा-संप्रदाय के इस पारिभाषिक शब्द से पौराणिक अर्धनारीश्वर शिव का ग्रहण न होकर दिव्यौघ परम्परा के चार गुरु-युगलों में से प्रथम—कामेश्वर कामेश्वरी युगल—का बोध होता है। 'आद्यं मिथुनम्' शब्द से अलंकारसंग्रहकार को यही अभीष्ट है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार त्रिपुरा-संप्रदाय का अनुवर्ती है और वह निश्चय ही योगिनी-हृदयदीपिकाकार से अभिन्न है। अलंकारसंग्रहकार ने—

अवोचदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् (१।५)।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना (१।८)।

इन वाक्यों में अपने को कवीश्वर और योगी बताया है। यह तन्त्रशास्त्र की परम्परा के अनुकूल है। महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त इस परम्परा के मुकुट-मणि हैं, जिन्होंने साहित्य और तन्त्रशास्त्र पर समान रूप से उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों की रचना की है। इसी प्रकार हस्तिमल्ल, जिनका कि वर्णन आगे किया जायगा, कवीश्वर और योगी दोनों थे। उसी परम्परा में अमृतानन्द भी आते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ता की अभिन्नता के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता।

योगिनीहृदयदीपिकाकार अमृतानन्द योगी का समय अभी तक ठीक से निश्चित नहीं किया जा सका है। अलंकारसंग्रह की सहायता से न केवल अमृतानन्द की, अपि तु ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द और अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द की, नित्याषोडशिकार्णव की भूमिका में हमारे द्वारा पूर्व निर्धारित, समय की सीमा में भी हम कुछ संकोच कर सकेंगे। इसके साथ ही ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत त्रिपुरासार-समुच्चयकार नागभट्ट के समय पर भी नये सिरे से विचार हो सकेगा। नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को पञ्चस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान धर्माचार्य विरचित

लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक[1] सूरि ने कवि हस्तिमल्ल की कृति के रूप में उद्धृत किया है। कवि हस्तिमल्ल एक जैन लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः प्रसंगवश यहां पर कवि हस्तिमल्ल और धर्माचार्य के विषय में भी कुछ कहा जायगा।

अलंकारसंग्रह की रचना कवीश्वर अमृतानंद योगी ने भक्ति भूपति के पुत्र मन्न, मन्व, या मन्म भूपति के कहने से की थी। इस ग्रन्थ के तिरुपति संस्करण की भूमिका (पृ० ४-६) में मन्म भूपति के समय के संबन्ध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं —

(क) श्री एम०[2] कृष्णमाचार्य ने मन्व भूप का समय १२५० ई० के आस पास माना है। यही समय अमृतानन्द योगी का भी माना जाना चाहिये।

(ख) १४०० ई० के पहले ये अवश्य हो चुके थे। अलंकारशास्त्र के ग्रंथ प्रवन्धदीपिका अथवा लक्षणदीपिका के कर्ता गौरणार्य ने अपने ग्रन्थ में अलंकार-संग्रह को उद्धृत किया है। ये सिंग भूपाल के मन्त्री थे। सिंग भूपाल का समय १४०० ई० के आसपास माना जाता है। इस प्रकार अमृतानन्द अवश्य ही १४०० ई० के पूर्व हो चुके थे।

(ग) आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले में मन्व भूप का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसका समय ई० १३ वीं शताब्दी के आस पास माना गया है। शिलालेख में निर्दिष्ट मन्व भूप अमृतानन्द के द्वारा निर्दिष्ट भूपति से अभिन्न है या भिन्न? इसको जानने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु यदि इनको एक मान लिया जाय तो कहना होगा कि अमृतानन्द ई० १३ वीं शताब्दी में अवश्य हो चुके थे।

इस सम्बन्ध में अड्यार संस्करण की संस्कृत और अंग्रेजी भूमिका में दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। संस्कृत भूमिका (पृ० ११-१४) में बताया गया है कि—

(क) ऐतिहासिकों के मत से यह मन्म भूपाल, जो कि मन्व नाम से प्रसिद्ध था, त्रैलिंग के राजाओं में प्रसिद्ध मन्म गण्डगोपाल है। जम्बुकेश्वर[3] क्षेत्र के देवालय में उपलब्ध प्रतापरुद्रदेव के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि यह मन्म गण्ड-

---

१. इस ग्रंथ की सरस्वती भवन में वर्तमान २३६१६ संख्यक मातृका के तीसरे पत्र में—"कविहस्तिमल्लोक्तत्रिपुरासारसमुच्चये" इस प्रकार अवतरणिका-वाक्य देकर—"कान्तान्त-वान्ताकुलवामनेत्रान्वितं" इत्यादिक श्लोक उद्धृत है। यह श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित नागभट्ट रचित त्रिपुरासारसमुच्चय (२।२५) में उपलब्ध होता है। अतः यह मानना उचित ही होगा कि नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल एक ही व्यक्ति हैं। सोमतिलक सूरि की यह टीका अब राजस्थान पुरातत्व ग्रंथमाला में मुनि जिनविजय जी के द्वारा संपादित होकर त्रिपुराभारतीलघुस्तव के नाम से जोधपुर से प्रकाशित हो चुकी है। इस टीका का रचना-काल १३९७ वि० संवत् है। इसमें अन्यत्र भी त्रिपुरासारसमुच्चय के श्लोक उद्धृत हैं।

२. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७

३. दक्षिण भारत में शिव के पांच भूत-लिंग प्रसिद्ध हैं—
"मृल्लिङ्गरूपमभजत् शिव आम्रनाथः, अब्लिङ्गरूपमभजत् स तु जम्बुकेशः।
लिङ्गं च तैजसमभूत् त्वरुणाचलेशः, श्रीकालहस्त्यधिपतिः खलु वायुलिङ्गम्॥

गोपालदेव प्रतापरुद्र का कृपापात्र था। १२९७ ई० के लिखे गये आन्ध्रप्रदेश के नरसरावपेट्ट शासन से यह ज्ञात होता है कि नल्लसिद्धि का ज्येष्ठ पुत्र मन्म गण्ड-गोपालदेव प्रतापरुद्र के अधीन था और कांची पर शासन करता था। इस शिलालेख से मन्म गण्डगोपालदेव का समय १२९७ ई० तक आता है। इसी प्रकार प्रतापरुद्रदेव का समय भी १२९६ ई० से १२६६ ई० के बीच माना जाता है।

(ख) विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य वेंकटनाथ का समय १२९६ ई० से १३६९ ई० माना गया है। इन्होंने संकल्पसूर्योदय [1]की प्रस्तावना में —

न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न ताः कलाः।
नासौ योगो न तज्ज्ञानं नाटके यन्न दृश्यते॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। संकल्पसूर्योदय के टीकाकार [1]अहोबल ने इसको अमृतानन्द का श्लोक माना है। वेंकटनाथ कांची के ही निवासी थे। इनके समय तक राजा गण्डगोपाल की बहुत ख्याति थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रायः १२३० ई० के आसपास गण्डगोपाल की राजसभा में अमृतानन्द विद्यमान थे और यहीं पर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।

(ग) यहां पर एक बात विचारणीय है—अलंकारसंग्रह में मन्म भूपाल का नाम बीसियों बार आया है, कहीं पर भी उसको गण्डगोपालदेव के नाम से संबोधित नहीं किया गया। इससे यह मानना पड़ेगा कि केवल मन्म नाम का राजा ही अमृतानन्द का प्रेरक था, न कि गण्डगोपालदेव। वटाटवी शिलालेख में केवल मन्म नाम के राजा का भी उल्लेख मिलता है, जो कि गण्डगोपालदेव का ही वंशज था। इस शिलालेख की तिथि १२०७ ई० है। इससे भी मन्म भूपति का समय १२०७ ई० से १२५० ई० के बीच में सिद्ध होता है।

अड्यार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका के लेखक डा० कुन्हन् राज का (पृ० ३९-४३) कहना है कि संकल्पसूर्योदय में उद्धृत उक्त श्लोक भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध है। इसलिये इससे अमृतानन्द के समय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिल सकती। केवल भक्ति भूपाल शब्द से ही ग्रंथकार के समय-निर्धारण में सहायता मिल सकती हैं। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अब तक दक्षिण भारत में केवल एक भक्ति भूपाल का पता चल सका है। इस नृपति से संबद्ध कुछ शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। एक ताम्रपत्र में भक्तिराज को चोल वंश का बताया गया है, जो कि आन्ध्र में आ बसे थे। इस ताम्रलेख की तिथि १३५५-५६ ई० है। १३८८ ई० और

आकाशलिङ्गमभवत् स चिदम्बरेशः।" (कालहस्तीश्वरसुप्रभातम्, १८-१९ श्लोक) यह जम्बुकेश्वर क्षेत्र आजकल त्रिचनापल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरंगम् का प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर भी यहीं है।

1. अड्यार लाइब्रेरी संस्करण, पृ० ५१

१४१६ ई० के अन्नदेव के ताम्रलेखों में भी भक्तिराज का उल्लेख मिलता है। अन्नदेव भक्तिराज का द्वितीय पुत्र था और १३६६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इतिहास में केवल यही एक भक्तिराज अब तक उपलब्ध हुआ है। इसके साथ कठिनाई यह है कि यहां पर कहीं भी मन्म का उल्लेख नहीं मिलता। भक्तिराज के एक और पुत्र था, जिसकी कि मृत्यु भक्तिराज के सामने ही हो गई थी। प्रथम पुत्र की मृत्यु हो जाने से ही इसका द्वितीय पुत्र अन्नदेव राजा हुआ। हो सकता है कि जब भक्तिराज जीवित था, तभी राजकुमार मन्म के कहने से अमृतानन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की। इस परिस्थिति में यह मानना पड़ेगा कि भक्तिराज की मृत्यु तिथि (१३६६ ई०) के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।

इस प्रकार हम यहाँ देखते हैं कि अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण की संस्कृत भूमिका में अमृतानन्द का समय ई० १३ वीं शताब्दी के मध्य में माना गया है, जब कि अड्यार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका में इसका स्थितिकाल ई० १४ वीं शताब्दी माना है। इस संबंध में किसी निश्चय तक पहुचने के लिये हम यहां पर पहले नागभट्ट, धर्माचार्य और शिवानन्द के समय के विषय में विचार करना चाहेंगे।

अमृतानन्द ने योगिनीहृदयदीपिका (पृ० ६८) में शिवानन्द की सुभगोदयवासना को उद्धृत किया है और शिवानन्द[1] ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को। लघुस्तव के व्याख्याता जैनाचार्य सोमतिलक सूरि ने त्रिपुरासारसमुच्चय को कवि हस्तिमल्ल की कृति माना है। इस प्रकार नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल अभिन्न व्यक्ति हैं। जैन इतिहासकार श्री नाथूराम प्रेमी[2] ने कवि हस्तिमल्ल के लिये लिखा है—

"रूपक या नाटक उनके सिवाय और किसी दिगम्बर जैन कवि ने नहीं लिखे हैं। वह गोविन्द भट्ट के पुत्र तथा वत्सगोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र को सुनकर गोविन्द भट्ट जैन-धर्म में दीक्षित हो गये थे। हस्तिमल्ल कर्णाटक प्रदेश के शासक पांड्यराज (१२९० ई०) के आश्रित कवि थे। कवि ने कहीं भी इस पांड्य महीश्वर का नामोल्लेख नहीं किया है। हस्तिमल्ल का असली नाम क्या था, इसका भी पता नहीं चलता। यह नाम तो उन्हें एक मत्त हाथी को बस में करने के उपलक्ष्य में पांड्य राजा के द्वारा प्राप्त हुआ था। इस हस्तियुद्ध का उल्लेख कवि ने अपने विक्रान्तकौरव के अतिरिक्त सुभद्राहरण[3] नाटक में भी किया है और साथ ही यह भी बतलाया है कि कोई धूर्त जैन मुनि का रूप धारण करके आया था और उसको भी हस्तिमल्ल ने परास्त कर दिया था। कवि

---

१. ऋजुविमर्शिनी, पृ० ११७

२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६०-२६६

३. सम्यक्त्वं सुपरीक्षितं मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे
चास्मिन् पाण्ड्यमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागतम्।
शैलूषं जिनमुद्रधारिणमपास्यासौ मदध्वंसिना
श्लोकेनापि मदेभमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः॥

हस्तिमल्ल के चार नाटक उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—१. विक्रान्तकौरव, २. मैथिली-कल्याण, ३. अंजनापवनंजय और ४. सुभद्राहरण। ये सभी नाटक माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उदयराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर नामक अन्य चार नाटकों के रचयिता भी हस्तिमल्ल को ही बताया[1] गया है"।

श्रीनाथूराम प्रेमी जी ने कवि हस्तिमल्ल का उपर्युक्त परिचय उनके ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। हस्तिमल्ल ने स्वयं अपने को वत्सगोत्रीय[2] ब्राह्मण माना है। विक्रान्तकौरव के अन्त में कवि लिखता है—

संवित्प्रकाशकौटस्थ्यमयीं मायातिलङ्घिनीम्।
अपवर्गस्य पदवीं त्रयीमाराधयामहे॥ (६।५८, पृ० १६२)

शाक्त तन्त्रों में परा संवित् को ही परब्रह्म माना गया है। कवि ने यहां पर त्रयी को घनीभूत संवित्प्रकाश मानकर उसके आराधक के रूप में स्वयं को उपस्थित किया है। कवि अंजनापवनंजय में भरत मुनि और मैथिलीकल्याण में दशरथतनय राम को प्रणाम करता है, साथ ही विक्रान्तकौरव तथा सुभद्रानाटिका के प्रारम्भ में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव को। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय त्रिपुरासम्प्रदाय का जैन-धर्म के साथ निकट[3] का संपर्क रहा है। हस्तिमल्ल का उदाहरण तो प्रस्तुत ही है। लघुस्तव के जैन व्याख्याता सोमतिलक सूरि का ऊपर उल्लेख किया गया है। अमृतानन्द योगी के आश्रयदाता राजा मन्म के लिये भी अलंकारसंग्रह (१।३) में 'शिवपादाब्जषट्पदः' के स्थान पर 'जिनपादाब्जषट्पदः' इस पाठान्तर का उल्लेख तिरुपति संस्करण में मिलता है। इसी प्रकार जैन धर्मावलम्बी प्रभाचन्द्राचार्य की कृति प्रभावकचरित में धर्म पण्डित की चर्चा मिलती है। ये लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के पृ० १४६-१५० में धर्म पण्डित के लिये लिखा गया है कि ये लाट देश के नर्मदा तटवर्ती भृगुकच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम सूरिदेव था, जो कि वेद और वेदांग में पारंगत ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम सावित्री था। धर्म और शर्म नाम के दो भाई थे और इनके गोमती नाम की एक बहिन थी। इनकी क्षेत्रपाल की उपासना और योगिनी-दर्शन आदि का भी यहां वर्णन मिलता है। यहां इनके धारापुरी जाने तथा वहां

यह श्लोक सुभद्रा नाटिका अथवा हस्तिमल्ल के प्रकाशित किसी भी नाटक में उपलब्ध नहीं है। विक्रान्तकौरव तथा मैथिलीकल्याण की संस्कृत भूमिका में यह श्लोक अय्यपार्य के जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय का बताया गया है।

१. आफ्रेक्ट का कैटलागस कैटलागरम्, पृ० ७६५ द्रष्टव्य।

२. विक्रान्तकौरव, १।४०, पृ० २०

३. त्रिपुराभारतीलघुस्तव की भूमिका में जैन मुनि जिनविजय जी लिखते हैं—"इस लघुस्तुति का प्रचार जैन संप्रदाय में भी प्राचीन काल से बहुत अधिक रूप में प्रचलित रहा है" (पृ० २)।

पर राजा भोज के दरबार में काव्य-निर्माण करने और विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने की भी चर्चा है। यहां धर्म का सिद्ध सारस्वत कवि के रूप में बार-बार उल्लेख किया गया है। राजस्थान पुरातत्त्व ग्रन्थमाला में प्रकाशित त्रिपुराभारती-लघुस्तव के अन्त में सिद्ध सारस्वत की कृति मातंगी स्तोत्र भी प्रकाशित है। क्या सिद्ध सारस्वत धर्माचार्य का ही उपनाम है ?

हमने अन्यत्र[1] सिद्ध किया है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य ही हैं। सकलजननीस्तव के टीकाकार पण्डित हरभट्ट[2] शास्त्री भी इसी मत के हैं। पंचस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान अम्बास्तव का अठारहवाँ श्लोक (लक्ष्मीवशीकरण) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण[3] में उद्धृत है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावकचरित में वर्णित धर्म पण्डित ही भृगुकच्छ से आकर यहां बस गये थे और सम्भवतः यहां पर इन्होंने पंचस्तवी की रचना की। लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य को त्रिपुरासम्प्रदाय के हादिमत की सिद्धौघ परम्परा में द्वितीय स्थान प्राप्त है। सरस्वतीकंठाभरण का रचनाकाल म. म. पी. वी.[4] काणे ने १०३०-१०५० ई० माना है। इसी के आसपास पंचस्तवी का रचनाकाल भी माना जा सकता है।

धर्माचार्य के बाद हादिमत में सिद्धौघ परम्परा के दो गुरु तथा मानवौघ परम्परा के सात गुरुओं के बाद ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द की स्थिति है। वंश परम्परा के समान गुरुपरम्परा में भी प्रत्येक पीढ़ी के लिये यदि २५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाय तो धर्माचार्य और भोजदेव के लगभग २२५ वर्ष बाद ई० तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शिवानन्द की स्थिति निश्चित होती है। ऊपर १२९० ई० के आसपास कवि हस्तिमल्ल[5] का समय बताया गया है। इस प्रकार कवि हस्तिमल्ल अथवा नागभट्ट को शिवानन्द का वृद्ध समसामयिक माना जाय तो कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय के अन्त में हादिमत की मानवौघ गुरुपरम्परा की समाप्ति के बाद पाँचवीं पीढ़ी में अपनी स्थिति बतलायी है। इस क्रम में उपर्युक्त नियम के अनुसार ई० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमृतानन्द की स्थिति आती है, जो कि डा० कुन्हन[6] राज के द्वारा निर्धारित तिथि के आसपास ही पड़ती है। डा० कुन्हन राज ने संभावना प्रकट की है कि १३६६ ई० के पहले अलंकारसंग्रह का

---

१. सारस्वती सुषमा, वर्ष २०, अंक २, पृ० १३-२६

२. "पञ्चस्तव्यां व्यधात् श्रीमद्धर्माचार्यकृताविमम्" (पृ० १७२)।

३. निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, पृ० ७१३-७१४

४. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० २६१

५. अंजनापवनंजय और सुभद्रा नाटिका के संपादक प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन ने इनका समय ९ से १३ वीं शताब्दी के बीच माना है (पृ० १२-१४)।

६. अलंकारसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४३

रचनाकाल होना चाहिये। इस अवस्था में संकल्पसूर्योदय में उद्धृत पद्य को टीकाकार के प्रमाण पर अलंकारसंग्रह का मानने में भी कोई विरोध प्रतीत नहीं होता और इससे भी अमृतानन्द के समय के निर्धारण में सहायता ही मिलती है। अमृतानन्द और वेंकटनाथ देशिक को समसामयिक और एक दूसरे से परिचित माना जा सकता है। संभवतः ये एक ही स्थान के अथवा बहुत समीप के निवासी रहे होंगे। संकल्पसूर्योदय के टीकाकार अहोबल स्वयं दाक्षिणात्य थे। वेंकटनाथ और इनके बीच का समय कोई बहुत लम्बा नहीं है। इसलिये टीकाकार से वचन को असंगत मानने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार ई० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही अमृतानन्द की स्थिति मानना युक्तिसंगत होगा। ई० १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमृतानन्द योगी की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जैसा कि ऊपर बताया गया है, अमृतानन्द ने शिवानन्द की सुभगोदयवासना आदि ग्रन्थों के उद्धरण योगिनीहृदयदीपिका में दिये हैं और शिवानन्द ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय के पद्यों को उद्धृत किया है। यह नागभट्ट ही कवि हस्तिमल्ल के नाम से जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं और उनका समय ई० १३ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में माना जाता है।

शिवानन्द के प्रशिष्य महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द की स्थिति शिवानन्द मुनि और अमृतानन्द योगी के बीच में किसी समय माननी होगी। ये चोलदेश के निवासी थे। धाराधीश भोज के लाटदेशीय राजकवि धर्माचार्य की कृति पंचस्तवी, महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी तथा अमृतानन्द योगी के षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों का काश्मीरी साहित्य में आदर के साथ उल्लेख मिलता है और बड़ी संख्या में इनकी मातृकाएँ वहाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार इन ग्रन्थों पर काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आवागमन की असुविधा के उस युग में ज्ञान के आदान-प्रदान की इस प्रणाली की जानकारी प्राप्त कर सकना एक कठिन कार्य होते हुये भी अनुसन्धान प्रेमियों के लिए एक मनोरंजन का विषय बन सकती है। भारतीय इतिहास में विद्वान् और विद्यानुरागी राजवंशों की राजधानियों के अतिरिक्त काशी और कश्मीर के समान ही विहार, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु आदि प्रदेशों में अनेक विद्यापीठ ज्ञान की उपासना में निरत थे। उनका आधुनिक विश्वविद्यालयों के समान ही सम्मान था। इनमें से कुछ विद्यापीठों में अनेक शताब्दियों तक भारतीय वाङ्मय की कुछ विशेष शाखाओं का अध्ययन निरन्तर आगे बढता रहा है। आज कल राजनीति-प्रधान इतिहास लेखन का ही बोलबाला है। यदि भारत के साहित्यिक इतिहास के लेखन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो तो विभिन्न शास्त्रों के विकास की परम्परा का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इस दृष्टि से लिखा गया इतिहास भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के क्रमिक विकास के इतिहास के कुछ अज्ञात पृष्ठों को खोल सकेगा॥

सम्पादकीय

योगतन्त्र विभाग की गतिविधि

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का योगतन्त्र विभाग केन्द्रीय सरकार, उत्तरप्रदेशीय सरकार तथा संस्कृत विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्ग के विशेष प्रयत्न से सन् १९६५-६६ में स्थापित हुआ। इस विभाग की स्थापना का मुख्य उद्देश्य लुप्तप्राय योगतन्त्रशास्त्र तथा वाङ्मय का पुनरुद्धार प्रयत्न है। संस्कृत विश्वविद्यालय में और अन्यत्र विभिन्न शिक्षा संस्थानों में योगशास्त्र का पठनपाठन अनुवृत्त है, परन्तु वह एकमात्र पातञ्जल योग में ही निबद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न योग सम्प्रदाय भी भारत में प्रकट हुए हैं और अपनी परम्पराओं के अनुसार ग्रन्थादि रचना कर गये हैं। इन सम्प्रदायों की स्मृति आज करीब-करीब लुप्त होती जा रही है। अति प्राचीन समय से भारत वर्ष में नाना प्रकार के योगों का अनुशीलन होता था। देश-शुद्धि, चित्त-शुद्धि तथा आत्मज्ञानलाभ के लिये योग की उपयोगिता है। नाथ सम्प्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ की धारा, विशेष कर गोरखनाथ की धारा, प्रसिद्ध है। विभिन्न शैव सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार के शिवयोग प्रचलित थे। वैदिक परम्परा में भी उपनिषदों के समय में विभिन्न प्रकार की योग-धाराओं का पता चलता है। इनके अतिरिक्त तान्त्रिक योग की भी भिन्न-भिन्न धाराएँ हैं, इनके ग्रन्थादि भी हैं। प्राचीन बौद्ध सम्प्रदाय में त्रिपिटक के अन्तर्गत पालिसाहित्य में विभिन्न योगविषयक विवरण मिलते हैं। परवर्ती समय में विशुद्धिमार्ग और अभिधर्मार्थसंग्रह प्रभृति ग्रन्थों में योग-रहस्यों के विलक्षण व्याख्यान मिलते हैं। महायान के अन्तर्गत पारमितायान तथा मन्त्रयान दोनों में योग का विवरण है। तिब्बतीय बौद्ध साहित्य वस्तुतः योग-रहस्यों की व्याख्या से ओतप्रोत है। जैन सम्प्रदाय में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उभयत्र योगतत्त्व का विवरण है। सहज मार्ग, अवधूत मार्ग, बाउल सम्प्रदाय, उड़ीसा का पञ्चसखा सम्प्रदाय, सन्त सम्प्रदाय, सिक्ख सम्प्रदाय, दरवेश सम्प्रदाय में सर्वत्र ही अपनी-अपनी योग प्रणाली है। महाराष्ट्र साहित्य में महायोगी ज्ञानदेव का योगोपदेश है। तमिल, तेलगु, कर्नाटक, वंगीय, उड़िया, असमी साहित्य में भी योगविषयक विभिन्न वर्णन देखा जाता है। पुराण-साहित्य में सर्वत्र योग का विवरण देखा जाता है। भारतीय तथा विदेशीय सूफी सम्प्रदाय में भी योग का विवरण देखा जाता है। इन सभी का उद्धार आवश्यक है। प्राचीन चीन, जापान प्रभृति देशों की बात यहाँ छोड़ दी गयी है।

योगशास्त्र के अनुरूप तन्त्रशास्त्र भी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में कुछ वर्षों से आगमशास्त्र के नाम से पठन-पाठन में आया, किन्तु यह एकदेशमात्र है।

आगम तथा तन्त्रशास्त्र अति विशाल है। इसकी उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। व्यक्तिगत रूप से कुछ लोग इसकी चर्चा अवश्य करते हैं, परन्तु इसके सविशेष परिशीलन की व्यवस्था नहीं है। कुछ दिन पहले कलकत्ता हाईकोर्ट के विचारपति मनीषी सर जान वुडरफ ने 'आर्थर एवेलेन' इस कल्पित नाम से तन्त्रशास्त्र की आलोचना का सूत्रपात किया था। वे स्वयं महातान्त्रिक शिवचन्द्र विद्यार्णव के शिष्य थे और बहुसंख्यक मूल्यवान् तन्त्र ग्रन्थों का सम्पादन कार्य स्वयं तथा दूसरों से कराया था। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक तत्त्वों की समालोचना करते हुए बहुसंख्यक ग्रन्थ भी उनके प्रणीत थे। पाण्डिचेरी में फ्रेंच विद्वन्मण्डली के उत्साह से आगमशास्त्र का कुछ प्रकाशन कार्य हुआ है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भारतीय ग्रन्थमालाओं में अल्प संख्यक तन्त्र ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। आक्सफोर्ड में बौद्धतन्त्र विषयक कुछ कार्य हुए और हो रहे हैं। इटली में टुची, फ्रांस में सिलवनलेवी, इंगलैण्ड में बर्नेट प्रभृति मनीषिगण ने तन्त्रविषयक कार्य किया तथा कर रहे हैं। किन्तु इतने पर भी विशाल तन्त्र साहित्य के व्यापक प्रकाशन का कोई प्रबन्ध नहीं है। प्रायः शतवर्ष पूर्व रसिकचन्द्र चट्टोपाध्याय नामक एक महाशय ने व्यापक रूप से तन्त्र प्रकाशन का व्रत लिया था, किन्तु वे भी पूरा कार्य न कर सके और उनके प्रकाशित ग्रन्थ भी आजकल लुप्त हो चुके हैं। अत एव तन्त्रशास्त्र का उद्धार वर्तमान समय में आवश्यक कर्तव्य है। इस पर ध्यान न देने से बहुसंख्यक अच्छे तन्त्रग्रन्थ लुप्त हो जायेंगे।

श्रीशंकराचार्य ने सौन्दर्यलहरी में चौसठ तन्त्रों की बात कही थी, परन्तु उनके नामों का उल्लेख नहीं किया था। लक्ष्मीधर, भास्करराय प्रभृति विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इन ग्रन्थों का नाम निर्देश किया है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने प्राचीन परम्परा के आधार पर ६४ तन्त्रों का नामोद्धार किया है, जो पहली तन्त्र नामावली से भिन्न है। तोडल तन्त्र में भी ६४ तन्त्रों के नाम हैं, किन्तु यह भी पूर्व से भिन्न है, जिसका उल्लेख सर्वोल्लास तन्त्र में है। इन विवरणों को छोड़ कर क्रान्ताभेद से भी मूलतन्त्र भेद का वर्णन मिलता है। असली बात यह है कि तन्त्र संकलन कार्य के पूर्ण होने पर ही यह ज्ञात हो सकता है कि कौन-कौन ग्रन्थ भविष्य से प्रकाशनार्ह हो सकेंगे। इसके लिये योगतन्त्र विभाग ने निम्न कार्य-क्रम स्थिर किये हैं—

(क) तन्त्रयोग का आलोचन तथा विशिष्ट तन्त्र ग्रन्थों का प्रकाशन इस विभाग का एक प्रधान कार्य है। इस महान् कार्य में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय सरस्वती भवन के हस्तलिखित ग्रन्थ ही उपजीव्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ का पाठ कर लेने के पश्चात् हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थों में से पाठ मिला कर पाठशुद्धि तथा पाठ स्थापन करना पड़ता है। यही योगतन्त्र विभाग का प्रथम तथा प्रधान कार्य है।

(ख) इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से तथा अध्यात्म साधना की दृष्टि से भी व्यापक रूप से तन्त्रयोग का आलोचन आवश्यक है।

(ग) जिन तान्त्रिक ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रति भी किसी ग्रन्थालय में नहीं मिलती, किन्तु इनके बचनादि प्राचीन ग्रन्थादि में उद्धृत उपलब्ध होते हैं। उनका संग्रह करके प्रकाशन करना भी एक आवश्यक कार्य है।

(घ) इस विभाग का एक और मुख्य कार्य तन्त्रशास्त्रीय कोष-संकलन है। यह अति विशाल कार्य है और एतदर्थ विशाल कर्मचारी गण का सुदीर्घकाल तक समवेत परिश्रम अपेक्षित है। फिर भी इस महान् कार्य के दिग्दर्शनार्थ यथा-सम्भव इसका प्रारम्भ किया गया है। पूना में वैदिककोष-संकलन के हेतु व्यापक प्रयत्न हो रहा है। दक्षिण भारत में धर्मशास्त्र के कोष का आंशिक संकलन हो चुका है। न्यायशास्त्र का कोष तो वहुत पहले ही बन चुका है और पारिभाषिक कोषों का निर्माण भी विभिन्न स्थानों में हो रहा है। इस समय तान्त्रिक कोष की रचना के विषय में उपेक्षा उचित न होगी।

(ङ) एक और महान् कार्य इस विभाग का आवश्यक कार्य समझा जाता है। वह है तान्त्रिक साहित्य में उपलब्ध सकामकर्मविषयक प्रयोगादि का संकलन। अध्यात्म दृष्टि से इसका मूल्य अधिक न होने पर भी लौकिक कल्याण की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है। विशाल तन्त्र साहित्य में इतस्ततः विक्षिप्त रूप से यह प्रयोग विद्यमान हैं। इनका संग्रह करके विषय के अनुसार सन्निवेश करना कर्तव्य है।

(च) इसके अतिरिक्त विभिन्न देव-देवियों के उपासना विषयक बहुसंख्यक तथ्य तन्त्रसाहित्य में निहित है। देव-देवियों का प्रकार भेद, ध्यान भेद, साधना रहस्य आदि तन्त्रों में विभिन्न स्थानों में मिलते हैं। विषयानुसार इनका संकलन कर लेने पर यह एक महान् लोकोपकारक कार्य सिद्ध होगा। देवताओं के ध्यानों का प्रकाशन एकनोग्राफी की दृष्टि से भी परमावश्यक है। तन्त्र तथा पुराणादि के आधार पर यह कार्य सम्पन्न होना चाहिये।

उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अब तक योगतन्त्र विभाग की ओर से निम्न कार्य किये गये हैं—

(क) अद्यावधि अप्रकाशित अथवा अन्यप्रान्तीय लिपियों में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण तन्त्र ग्रन्थों तथा उन विशिष्ट ग्रन्थों के भी, जो कि आज अनुपलब्ध हैं, प्रकाशनार्थ योगतन्त्र ग्रन्थमाला का शुभारम्भ किया गया है। इसके प्रथम पुष्प के रूप में तन्त्रशास्त्र के दो प्राचीन आचार्यों, शिवानन्द और विद्यानन्द, की टीकाओं के साथ नित्याषोडशिकार्णव का प्रकाशन हो चुका है। इसके परिशिष्ट में दीपकनाथ सिद्ध के त्रिपुरसुन्दरीदण्डक का, शिवानन्द मुनि के सुभगोदय, सुभगोदयवासना

तथा सौभाग्यहृदयस्तोत्र का और अमृतानन्द योगी के सौभाग्यसुधोदय और चिद्विलासस्तव का भी प्रकाशन हुआ है। तन्त्रसंग्रह के नाम से प्रकाशित होने वाले छोटे बड़े लगभग ४० ग्रन्थों का सरस्वतीभवन की मातृकाओं के आधार पर संशोधन और पाठसंकलन किया जा चुका है। इसके प्रथम दो भागों का प्रकाशन योगतन्त्र-विमर्शिनी के प्रथम अंक के साथ ही हो रहा है। प्रथम भाग में सटीक विरूपाक्ष-पञ्चाशिका, साम्बपञ्चाशिका, त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र और स्पन्दप्रदीपिका का तथा अनुभवसूत्र और वातुलशुद्धाख्यतन्त्र का समावेश किया गया है। द्वितीय भाग में निर्वाणतन्त्र, तोडलतन्त्र, कामधेनुतन्त्र, फेत्कारिणीतन्त्र, ज्ञानसंकलिनी और सटीक देवीकालोत्तरागम प्रकाशित हो रहे हैं।

(ख) ऐतिहासिक दृष्टि से तथा अध्यात्मसाधना की दृष्टि से भी व्यापक रूप से योगतन्त्र का आलोचन प्रस्तुत करने के लिये योगतन्त्रविमर्शिनी को समय-समय पर निरन्तर प्रकाशित करते रहने की योजना है। पर कोई नियमित पत्रिका नहीं होगी, किन्तु विभागीय तथा अन्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये निबन्धों का जब भी एक अंक के लायक संग्रह पूर्ण हो जायगा तथा आर्थिक सुविधा को भी देखते हुये प्रकाशन किया जायगा। सन् १९६५ में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में संपन्न हुए तन्त्रसम्मेलन के अवसर पर प्राप्त हुए कुछ विशिष्ट निबन्ध सारस्वती सुषमा में प्रकाशित हो चुके हैं। अब भी अनेक विशिष्ट निबन्ध प्रकाशन के लिये अवशिष्ट हैं। तन्त्रसम्मेलन के अवसर पर आयोजित प्रदर्शनी में प्रदर्शित विशिष्ट सामग्री के चित्रों से सुसज्जित योगतन्त्रविमर्शिनी के इस विशेषांक के प्रकाशन के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से आर्थिक सहायता की अपेक्षा की जा रही है। उचित सहायता प्राप्त होते ही इसको प्रकाशित किया जायगा।

(ग) इस प्रकार के वचनों का संकलन लुप्तागमसंग्रह के नाम से प्रकाशित करने की योजना है। इसका प्रथम भाग प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें २२१ तन्त्रों के वचनों को संगृहीत किया गया है। दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित किया जायगा। द्वितीय भाग के प्रकाशन के समय ही इनके ऐतिहासिक और दार्श-निक स्वरूप पर प्रकाश डाला जायगा।

(घ) तान्त्रिक कोश के प्रथम भाग के लिये पर्याप्त सामग्री संकलित कर ली गई है। शीघ्र ही इसका प्रकाशन किया जायगा।

(ङ-च) अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये भी इन्हीं गतिविधियों के साथ सामग्री संकलन का कार्य हो रहा है।

देश और विदेश के हस्तलिखित ग्रन्थागारों में उपलब्ध तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में से अभी कुछ ही ग्रन्थों का प्रकाशन हो सका है। इस वाङ्मय का विशाल साहित्य अभी अप्रकाशित ही पड़ा है। इस विशाल साहित्य में से कुछ चुने हुए

ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ नेपाल के वीर पुस्तकालय में संगृहीत प्राचीनतम मातृकाओं को प्राप्त करने के लिये तथा हाल में काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय तथा लखनऊ की संस्कृत परिषद् में संगृहीत शारदा लिपि की पाण्डुलिपियों को प्राप्त करने के लिये पत्र व्यवहार चल रहा है। इस विभाग के व्याख्याता श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी प्रकाशन के उपयुक्त विशिष्ट पाण्डुलिपियों का तथा इन स्थानों में हो रहे कार्यों का अवलोकन करने के लिये, साथ ही इस विषय के विद्वानों और संस्थाओं से विशेष सम्पर्क स्थापित करने के लिये कलकत्ता, तिरुपति, मद्रास, तंजोर, त्रिवेन्द्रम्, त्रिपुरुंतुरा, मैसूर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, होशियारपुर आदि स्थानों की यात्रा कर चुके हैं। इस यात्रा में देखी गयी विशिष्ट पाण्डुलिपियों में से प्रकाशनार्ह ग्रन्थों की उपलब्धि के लिये पत्राचार किया जा रहा है।

अब तक उत्तर भारत में अध्ययन अध्यापन के क्षेत्र में इस शास्त्र की उपेक्षा ही की जाती रही हैं, जब कि दक्षिण भारत में इस शास्त्र के पांचरात्र, शैव, वीरशैव, वैखानस, तन्त्र आदि विभिन्न उपविभागों के भी अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था चिरकाल से है। संस्कृत विश्वविद्यालय में इन सभी उपविभागों के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों तथा बौद्ध आदि तन्त्रों को भी लेकर एक नया पाठ्यक्रम चालू किया गया है, जिससे कि यहाँ पर भी तन्त्रशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ की जा सके और नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्यों के द्वारा तिब्बती भाषा में अनूदित विशाल तान्त्रिक वाङ्मय का भी पुनरुद्धार किया जा सके। विशिष्ट विद्वानों तथा संस्थाओं के अथक परिश्रम से संस्कृत विश्वविद्यालय में सन् १९६५ में हुए तन्त्रसम्मेलन और प्रदर्शनी के आयोजन से तथा यू० जी० सी० की सहायता से यहाँ पर योगतन्त्र विभाग के चालू किये जाने से शिक्षित वर्ग इस उपेक्षित विषय के अध्ययन अध्यापन की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रहा है। केवल भारत ही नहीं, पाश्चात्त्य देशों में भी आज योग और तन्त्रशास्त्र के प्रति विशेष अभिरुचि जाग्रत् हो रही है। अनेकों विदेशी जिज्ञासु इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत में आते हैं। उनकी जिज्ञासा की तृप्ति के लिये एक केन्द्रीय संस्थान की अत्यन्त आवश्यकता है। संस्कृत विश्वविद्यालय का योगतंत्र विभाग इस कार्य के लिये उपयुक्ततम सिद्ध होगा।

हम पहले ही कह चुके हैं कि आजकल योगशास्त्र के अध्ययन अध्यापन का कार्य प्रायः पातंजल योग-दर्शन तक ही सीमित है, जब कि यह शास्त्र बड़ा व्यापक है। मुख्य-मुख्य आगम ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से योगपाद ग्रथित हैं, जिसमें पातंजल योग से सर्वथा भिन्न योगशास्त्र के निगूढ तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन निहित है। इसके अतिरिक्त विभिन्न सन्त सम्प्रदायों में नाथयोग, हठयोग, कुण्डलिनीयोग, अवधूतयोग (दत्तात्रेय प्रभृति आचार्यों का) आदि योगशास्त्र की विभिन्न धारायें परिलक्षित होती हैं। इस विभाग में योगशास्त्र के इस अपरिचित अंग पर भी विशेष

अनुशीलन, अनुसन्धान, सति संभवे प्रयोगात्मक ज्ञान आदि पर प्रभूत बल देने का विचार किया गया है।

वाराणसेय राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में केवल वेद, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, वेदान्त, दर्शन, न्याय आदि विषयों के ही अध्यापन की व्यवस्था थी। महाविद्यालय के विश्वविद्यालय बन जाने पर यहाँ पर मीमांसा, सांख्ययोग, धर्मशास्त्र, बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, पालि, प्राकृत आदि विषयों के साथ-साथ चारों वेदों तथा वेदान्त के रामानुज, वल्लभ आदि अवान्तर विभागों के भी अध्यापन की स्थायी व्यवस्था की जा चुकी है। प्रशिक्षण, आयुर्वेद और विज्ञान आदि के स्वतंत्र विभाग भी खोले जा चुके हैं। यहाँ पर आवश्यकता के अनुसार अन्य नये-नये विषयों का भी समावेश होता रहा है, यह ठीक ही है। विश्वविद्यालय को अपने ठीक अर्थ में परिपूर्ण होने के लिये बाह्य तथा आधुनिक विषयों के समावेश के साथ-साथ धार्मिक संस्कृति के अन्तरंग विषयों से सर्वथा सुसज्जित तथा स्थायी प्रबन्ध से संयुक्त रहना अत्यन्त आवश्यक है। आज के भारतीय जन-जीवन तथा साहित्य पर योग और तन्त्रशास्त्र का व्यापक प्रभाव है। अतः वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में योगतन्त्र विभाग की स्थापना इस उद्देश्य शृंखला की एक कड़ी ही मानी जायगी।

हमारा विश्वास है कि अध्ययनाध्यापन की परम्परा के पुनरुद्धार, ग्रन्थ-प्रकाशन, कोश निर्माण और विशेष कर योगतन्त्रविमर्शिनी के माध्यम से यह विभाग इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकेगा। इसी आशा के साथ हम योग-तन्त्रविमर्शिनी के प्रथम अंक को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।